विवेक-ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २६ अंक ३
रामकृष्ण मिशन

निर्माण कार्य जैसा भी हो
सेन्चुरी सीमेंण्ट
सर्वोत्तम हैं
CENTURY'S
VISHWAKARMA
PORTLAND CEMENT
50 Kg. Nett.
सेन्चुरी सीमेन्ट द्वारा उत्पादित
'विश्वकर्मा' ब्रान्ड सीमेन्ट
शक्तिशाली पकड़ एवं दीर्घकालीन
टिकाऊपन के लिए विश्वसनीय सीमेन्ट है।
निर्माता· सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ - 493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.
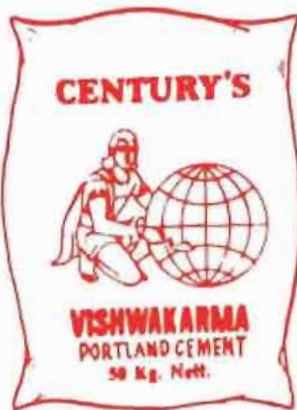
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
* १९८८ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

वर्ष २६
अंक ३

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

८२वीं तालिका

(१५ मई १९८८ तक)

२८९५. श्री गणेश्वरलाल दुबे, सुन्दरनगर, रायपुर।
२८९६. श्री किशोर अग्रवाल, बागबहारा (रायपुर)।
२८९७. श्री गोविन्दसिंह सेंगर, जबलपुर।
२८९८. श्री प्रकाशचंद्र पाठक, तिलक नगर, नागपुर।
२८९९. श्री डी.पी. सार्थी, जशपुरनगर (रायगढ़)।
२९००. श्री मदनलाल मोहनलाल बोहरा, इचलकरंजी।
२९०१. श्री शिवप्रसाद दयामा, इचलकरंजी (महाराष्ट्र)।
२९०२. श्री घनश्याम हनुमानदास पुरोहित, इचलकरंजी।
२९०३. श्री अशोक मोतीलाल बोहरा, इचलकरंजी।
२९०४. विद्यार्थी ललितकुमार लोधी, अमाड़ा, नरसिंहपुर।
२९०५. श्री विवेककुमार कौरव, इमलिया, नरसिंहपुर।
२९०६. श्री सुदामा प्रसाद कौरव, इमलिया, नरसिंहपुर।
२९०७. श्री रामदयालजी नगपुरिया, बमुरिया, नरसिंहपुर।
२९०८. श्री योगेन्द्रसिंह खर्जुरिया, अमाड़ा, नरसिंहपुर।
२९०९. श्री सुरेश राठी, शैलेन्द्र नगर, रायपुर।
२९१०. श्री एम के. चन्द्राकर, गुढ़ियारी, रायपुर।
२९११. श्रीमती पुष्पा खन्ना, नयी दिल्ली।
२९१२. ब्रह्मचारी चन्द्रकान्त, बेलुर मठ।
२९१३. श्री ज्ञानिराम लिलहरे, आनंद नगर, रायपुर।
२९१४. श्री बद्रीप्रसाद विश्वकर्मा, नेपियर टाउन, जबलपुर।
२९१५. श्री संतोषमल डगुरिया, रामपुरा, मन्दसौर।
२९१६. ठाकुर सुरेन्द्रकुमारसिंह, बिलासपुर।
२९१७. सुश्री ज्योति टी. चौधरी, दुबई।
२९१८. श्री रामनाथ वर्मा, 'राज मिस्त्री', अमरकटक।
२९१९. श्री सुकीरथ, 'राज मिस्त्री', अमरकटक।
२९२०. श्री जनमेजय साहू, फरसवानी, बिलासपुर।
२९२१. मेसर्स बी.जे. कम्पनी प्रा.लि., इन्दौर।
२९२२. श्री टी.आर. केवट, नारायणपुर (बस्तर)।

२९२३. श्री ओ. पी. दुबे, नारायणपुर (बस्तर)।
२९२४. श्री रघुवर शरण, दिल्ली।
२९२५. श्री ललित रैना, झाझरकोटली, जम्मू।
२९२६. श्री माधव अम्बादास बोरडकर, रविनगर, नागपुर।
२९२७. सौ. रेखा देशकर, रविनगर, नागपुर।
२९२८. सौ. चित्रा भारद्वाज, धरमपेठ, नागपुर।
२९२९. सौ. अनुश्री गरुड, शंकरनगर, नागपुर।
२९३०. सौ. सुषमा अंधारे, वर्धा रोड, नागपुर।
२९३१. श्री किशोर बेहरे, रविनगर, नागपुर।
२९३२. श्री शशांक लांबे, वर्धा रोड, नागपुर।
२९३३. श्री एन. पी. कोलारकर, वर्धा रोड, नागपुर।
२९३४. श्री एस. कृष्णन्, भिलाई, नगर (दुर्ग)।
२९३५. श्री घनश्याम चन्द्राकर, औंधी (दुर्ग)।
२९३६. श्री प्रशांत कुमार गुप्ता, भिलाई (दुर्ग)।
२९३७. श्री एस. के. धाल, कोरबा (बिलासपुर)।
२९३८. श्री राजेन्द्र कुमार तिवारी, रायपुर।
२९३९. सुश्री निशा चौहान, कल्याण (बम्बई)।
२९४०. श्री भीमसेन वर्मा, भिलाई नगर (दुर्ग)।
२९४१. प्रो. मनहरलाल आडिल, शंकर नगर, रायपुर।
२९४२. श्री जी. एस. ठाकुर, श्यामनगर, रायपुर।
२९४३. श्री बसंतलाल जैन, कैथाल (हरियाणा)।
२९४४. डा. एम. के. दीक्षित, महेश्वर (खरगौन)।
२९४५. श्री अशोक शुक्ला, मलाजखण्ड (बालाघाट)।
२९४६. श्रीमती खण्डेलवाल, बम्बई।
२९४७. श्री महेश दत्त, लखनऊ।
२९४८. श्री ऋषभ कुमार जैन, डोंगरगांव (राजनांदगांव)।

अनुक्रमणिका

○

आवरण चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २६] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [अंक ३

★ १९८८ ★

सन्त का स्वभाव

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ।।

—जैसे सूर्य बिना कहे, आप ही कमलों को खिलाता है, चन्द्रमा बिना कहे कुमुदों को प्रफुल्लित करता है, मेघ भी बिना माँगे जल बरसाता है, वैसे ही सन्तजन भी स्वयं होकर सदैव दूसरों की भलाई में लगे रहते हैं।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ७३

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

ल्यूकर्न, स्विट्ज़रलैण्ड,
२३ अगस्त, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

आपका अन्तिम पत्र मुझे आज मिला, आपके भेजे हुए ५ पौंड की रसीद अब तक आपको मिल चुकी होगी । आपने जो सदस्य होने की बात लिखी है, उसे मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका, फिर भी किसी संस्था की सदस्य-सूची में मेरे नामोल्लेख के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है । किन्तु इस विषय में स्टर्डी का क्या अभिमत है, मैं नहीं जानता । मैं इस समय स्विट्ज़रलैण्ड में भ्रमण कर रहा हूँ । यहाँ से मैं जर्मनी जाऊँगा, बाद में इंग्लैण्ड जाना है तथा अगले जाड़े में भारत । यह जानकर कि सारदानन्द तथा गुडविन अमेरिका में अच्छी तरह से प्रचार-कार्य चला रहे हैं, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई । मेरी अपनी बात तो यह है कि किसी काम के प्रतिदानस्वरूप मैं उस ५०० पौंड पर अपना कोई हक कायम करना नहीं चाहता । मैं तो यह समझता हूँ कि मैं काफी परिश्रम कर चुका । अब मैं अवकाश लेने जा रहा हूँ । मैंने भारत से एक और व्यक्ति माँगा है; आगामी माह में वह मेरे पास आ जाएगा । मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है, अब दूसरे लोग उसको पूरा करें । आप तो देखती ही हैं कि कार्य को चालू करने के लिए कुछ समय के लिए मुझे रुपया-पैसा छूना पड़ा । अब मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरा कर्तव्य

समाप्त हो चुका है । वेदान्त अथवा जगत् के अन्य किसी दर्शन अथवा स्वयं के कार्य के प्रति अब मुझे कोई आकर्षण नहीं है । मैं प्रस्थान करने के लिए तैयारी कर रहा हूँ—इस जगत् में, इस नरक में मैं फिर लौटना नहीं चाहता । यहाँ तक कि इस कार्य की आध्यात्मिक उपादेयता के प्रति भी मेरी अरुचि होती जा रही है । मैं चाहता हूँ कि माँ मुझे शीघ्र ही अपने पास बुला लें ! फिर कभी मुझे लौटना न पड़े!

ये सब कार्य तथा उपकार आदि कार्य चित्तशुद्धि के साधन मात्र हैं, इसे मैं बहुत देख चुका । जगत् अनन्त काल तक सदैव जगत् ही रहेगा । हम लोग जैसे हैं, वैसे ही उसे देखते हैं । कौन कार्य करता है और किसका कार्य है ? जगत् नामक कोई भी वस्तु नहीं है, यह सब कुछ स्वयं भगवान् हैं । भ्रम से हम इसे जगत् कहते हैं । यहाँ पर न तो मैं हूँ और न तुम और न आप—एकमात्र वही है, प्रभु—**एकमेवाद्वितीयम्** । अत: अब रुपये-पैसे के मामलों से मैं अपना कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता । यह सब आप लोगों का ही पैसा है, आप लोगों को जो रुपया मिले, आप अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करें । आप लोगों का कल्याण हो ।

प्रभुपदाश्रित, आपका
विवेकानन्द

पुनश्च—डाक्टर जेन्स के कार्य के प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है एवं मैंने उनको यह बात लिख दी है । यदि गुडविन तथा सारदानन्द अमेरिका में कार्य को बढ़ा सकते हैं तो भगवान् उन्हें सफलता दे । स्टर्डी के, मेरे अथवा अन्य किसी के पास तो उन्होंने अपने को गिरवी नहीं रखा । 'ग्रीन एकर' के कार्यक्रम में यह एक भारी भूल हुई है कि उसमें यह छापा गया है कि स्टर्डी ने कृपा कर सारदानन्द

को वहाँ रहने की (इंग्लैण्ड से अवकाश लेकर वहाँ रहने की) अनुमति प्रदान की है । स्टर्डी अथवा और कोई एक संन्यासी को अनुमति देनेवाला कौन होता है ? स्टर्डी को स्वयं इस पर हँसी आयी और खेद भी हुआ । यह निरी मूर्खता है, और कुछ भी नहीं ! यह स्टर्डी का अपमान है, और यह समाचार यदि भारत में पहुँच जाता तो मेरे कार्य में अत्यन्त हानि होती । सौभाग्यवश मैंने उन विज्ञापनों को टुकड़े-टुकड़े कर फाड़कर नाली में फेंक दिया है । मुझे आश्चर्य है कि क्या यह वही प्रसिद्ध 'यांकी' आचरण है, जिसके बारे में बातें करके अँगरेज लोग मजा लेते हैं ? यहाँ तक कि मैं खुद भी जगत् के एक भी संन्यासी का स्वामी नहीं हूँ । संन्यासियों को जो कार्य करना उचित प्रतीत होता है, उसे वे करते हैं और मैं चाहता हूँ कि मैं उनकी कुछ सहायता कर सकूँ---बस, इतना ही उनसे मेरा सम्बन्ध है । पारिवारिक बन्धनरूपी लोहे की साँकल मैं तोड़ चुका हूँ---अब मैं धर्मसंघ की सोने की साँकल पहिनना नहीं चाहता । मैं मुक्त हूँ, सदा मुक्त रहूँगा । मेरी अभिलाषा है कि सभी कोई मुक्त हो जाएँ---वायु के समान मुक्त । यदि न्यूयार्क, बोस्टन अथवा अमेरिका के अन्य किसी स्थल के निवासी वेदान्त-चर्चा के लिए आग्रहशील हों तो उन्हें वेदान्त के आचार्यों को आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए, उनकी देखभाल तथा उनके प्रतिपालन की व्यवस्था करनी चाहिए । जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो एक प्रकार से अवकाश ले चुका हूँ । जगत् की नाट्यशाला में मेरा अभिनय समाप्त हो चुका है !

भवदीय,

विवेकानन्द

०

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

इक्कीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के एक वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्सग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप में चर्चा की थी। उनके उन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

जो प्रश्न हम लोगों में से बहुतों के मन में उठता है, वही प्रश्न प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भ में कोन्नगर के एक भक्त उठाते हैं––"महाशय, हमने सुना है कि आपको भाव होना है, समाधि होती है। क्यों होती है, किस प्रकार होती है, यह हमें समझा दीजिए।" प्रश्न हास्यास्पद लगता है। जिसके बारे में हमारी कोई धारणा ही नहीं है, उसके बारे में किसी व्यक्ति के मुँह से दो-चार बातें सुन लेने से ही क्या उसकी स्पष्ट धारणा हो जाएगी, अथवा उसके कहने का अभिप्राय समझ में आ जाएगा ?

भाव और महाभाव

ठाकुर अहैतुकी कृपासिन्धु हैं। वे बिना किसी हिच-किचाहट के प्रश्न सुनकर समझाने लगे कि महाभाव के क्या लक्षण हैं। कहते हैं, "राधाजी को भाव होता था।

किसी सखी को उनका स्पर्श करते बढ़ते देख अन्य सखी कहती, 'कृष्णविलास के अंग को छू मत; उनकी देह में इस समय कृष्ण विलास कर रहे हैं ।' इसका तात्पर्य यह है कि भाव की अवस्था में भगवान् और भक्त एक हो जाते हैं । भक्त की देह मात्र रह जाती है, भीतर स्वयं भगवान् परिपूर्ण भाव से विराजमान रहते हैं । इसी का नाम 'महाभाव' है; क्योंकि इस अवस्था में अन्य सभी भाव अन्तर्हित हो जाते हैं और केवल भगवद्-भाव बना रहता है । साधारण भक्तों को भी साधना की चरम अवस्था में भाव होना है, लेकिन वह महाभाव नहीं है । उनके हृदय में भगवान् का भाव कुछ अंशों में प्रकाशित होता है ।" ठाकुर कहते हैं कि जीव को महाभाव नहीं होता, श्रीराधाजी को होता था; क्योंकि महाभाव को धारण करने की शक्ति जीव में नहीं है । श्रीराधाजी का दृष्टान्त देने का तात्पर्य यह नहीं है कि और किसी को महाभाव नहीं हुआ या नहीं हो सकता । इसका अभिप्राय यह है कि जिसे महाभाव होना है, वह फिर साधारण मनुष्य नहीं रह जाता, तब उसे श्रीराधाजी का ही सारूप्य प्राप्त हो जाता है । उसका स्वयं का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाता है; परिणामतः वह भगवान् का विलासक्षेत्र मात्र रह जाता है । महाभाव के समय जो अनुभव करता है और अनुभव होता है, ये दो भिन्न नहीं रह जाते, एक हो जाते हैं । राय रामानन्द के साथ श्री चैतन्यदेव की जो चर्चा हुई थी, उसके सहारे इस महाभाव का लक्षण कुछ कुछ समझा जा सकता है । मधुर-भाव की व्याख्या के प्रसंग में राय रामानन्द कहते हैं—मैं और वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं—"ना सो रमण ह्राम ना रमणी । दुँहु मन मनोभव पेषल जानी ।" ('चैतन्य-

चरितामृत', मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद) । तब ऐसा लगता है कि काम और प्रेम दोनों के मन को मानो पीसकर एक कर दिया गया है । काम माने भगवान् को पाने की तीव्र आकांक्षा——उस आकांक्षा में भक्त और भगवान् दोनों का मन मिलकर एक हो जाता है । यही महाभाव का चिह्न है । तब श्रीकृष्ण पुरुष नहीं है और न श्रीराधाजी स्त्री हैं । भगवान् और भक्त दोनों की सत्ता मिलकर एक हो जाती है ।

देखा जाता है कि यह महाभाव ईश्वरानुभूति हो जाने के बाद ही होता है । जिसे ईश्वरानुभूति नहीं हुई है, उसके लिए बुद्धि के द्वारा इसे समझ पाना कठिन है । फिर भी ठाकुर ने दृष्टान्त के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा की है——"मछली जब गहरे पानी से ऊपर आती है, तब पानी हिलता है; बड़ी मछली होने से पानी में उथल-पुथल मच जाती है । उसी तरह जिसे भाव होता है, वह रोता है, हँसता है, नाचता है, गाता है ।" यह दृष्टान्त साधारण भावावस्था के सम्बन्ध में ही कहा गया है, यह महाभाव की सीमा तक नहीं पहुँचता । जब भगवान् का भाव आकर मन को उद्वेलित करता है, तब मन पर कोई अंकुश नहीं रह जाता, मन को किसी कटघरे में नहीं रखा जा सकता । एक और सुन्दर दृष्टान्त देते हुए ठाकुर कहते हैं——"भाव में अधिक देर तक नहीं रहा जा सकता । आईने के सामने बैठकर केवल अपना चेहरा देखते रहने से, लोग पागल समझेंगे ।" आईने के सामने बैठकर मुँह देखने का अर्थ है भावावस्था में भगवान् के सान्निध्य में रहना । उनके सान्निध्य में रहने पर अपना मुँह दिखाई नहीं देता, उस आईने में जो मैं प्रतिविम्बित होता है, वह अधिक नहीं टिकता; वह सम्पूर्ण रूप से उसमें निमग्न हो जाता है, उसका नामो-

निशान नहीं रह जाता।

ईश्वर-दर्शन तथा उसकी लक्षणावली

इसके बाद कोन्नगर के भक्त कहते हैं, "सुना है कि महाशय ईश्वर-दर्शन करते रहते हैं, तब तो हमें भी दिखा दीजिए।" यह बड़ी सुन्दर बात है। सच ही तो है, जिन्होंने ईश्वर का दर्शन किया है, वे यदि न दिखला दें तो उनकी बातों पर कोई कैसे विश्वास करेगा? उपनिषद् में भी इस तरह की बात है—'यो वा कश्चिद् ब्रूयाद् वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहि' (बृहदारण्यक उप० ३/७/१)—अर्थात् यह तो कोई भी कह सकता है कि मैं जानता हूँ। अच्छा, जैसा जानते हो, ठीक वैसा ही बताओ तो। केवल यह कहने से क्या होगा कि मैंने ईश्वर को देखा है, जैसे तुम्हें देख रहा हूँ? क्या इस बात को परखने का कोई उपाय नहीं है?—है। वह क्या है? 'गीता' में हमने स्थितप्रज्ञ का लक्षण देखा है। जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, उनका लक्षण क्या है यह वहाँ बतलाया गया है। अतएव जो कहते हैं कि हमने ईश्वर को देखा है, तो इस बात पर विचार करना होगा कि उनका आचरण सचमुच ब्रह्मज्ञ पुरुष के समान है या नहीं। और यदि वैसा नहीं है तो वह अन्ध-गोलांगुलन्याय होगा—अर्थात् एक अन्धे का आँख मूँद गाय की पूँछ पकड़कर वैकुण्ठ जाने के समान होगा। इसलिए ठाकुर ने भी कहा है, "साधु को सोच-विचारकर, जाँच-परखकर अपनाना। मैं कह रहा हूँ इसीलिए मान लेना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं।" यह बात ठाकुर ही कह सके थे, तथा उनके शिष्यों में से अनेकों ने उनकी परीक्षा ली थी। स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) ने अन्त तक उनसे झगड़ा किया, तथा इस झगड़े के लिए स्वयं ठाकुर ने भी उन्हें

प्रोत्साहित किया । विचार करते करते मन जिनके पास पूरी तरह से मान जाय, उन्हीं के पास आत्म-समर्पण करना चाहिए । और फिर उसके बाद पग पग पर संशय नहीं करना चाहिए, उससे साधना-पथ में विघ्न होता है । यद्यपि किसी विशेष क्षेत्र में अधिकारी-भेद से गुरु की बात मान लेने की बात ठाकुर ने अवश्य कही है, लेकिन वह एक अलग प्रसंग है ।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षणों पर किस प्रकार से विचार करेंगे ? यह दो प्रकार से किया जाता है—पहला है स्व-संवेद्य लक्षणों के द्वारा तथा दूसरा, परसंवेद्य लक्षणों के द्वारा । जब अन्य व्यक्तियों के लक्षणों को देख शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ मिलाकर उन पर विचार किया जाता है, तब वे होते हैं परसंवेद्य लक्षण । और जब साधक स्वयं विचारशील होकर अन्तर्मुख हो जावे, ऐसी स्थिति में जिन लक्षणों को वह बुद्धि द्वारा समझ सके, वे सब लक्षण स्वसंवेद्य कहलाते हैं । कीर्तनादि करने से या थोड़ा जप करने से या दो-चार दिन साधना करने से बहुतों को अश्रु-पात, रोमांच, कम्प इत्यादि होते देखा जाता है, लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि यह भाव या महाभाव नहीं है । अकसर वह शारीरिक विकार मात्र होता है । अतः 'मैंने ईश्वर को देखा है, या उसका अनुभव किया है, या अमुक व्यक्ति को भावसमाधि होती है, इसलिए वह उच्च अधि-कारी है' इत्यादि सब बातें कहने से पूर्व विचारपूर्वक विश्लेषण करके देखना होगा कि मन की अपवित्रता क्रमशः कम हो रही है या नहीं, विषयासक्ति कम हो रही है या नहीं, भगवान् के प्रति अधिकाधिक आकर्षण का अनुभव हो रहा है या नहीं ? क्योंकि, श्रीरामकृष्ण देव की भाषा

में, 'जितना ही पूर्व दिशा की ओर बढ़ोगे, उतना ही पश्चिम दिशा से दूर होते जाओगे।' भगवान् की ओर बढ़ते हुए यदि विषयासक्ति न घटे, तब शरीर में चाहे कोई भी लक्षण क्यों न प्रकट हो, समझना होगा कि वह सब भगवान् की ओर बढ़ने के लिए नहीं हो रहा है। भगवान् की ओर बढ़ने पर, ठाकुर की भाषा में, 'विषय अलोना लगेगा'। तब मन भगवान् में इतना लगा रहेगा, इतना डूब जाएगा कि और किसी वस्तु के बारे में सोचने के लिए समय ही नहीं रहेगा। फिर यह भी ध्यान में रखना होगा कि भगवान् की ओर बढ़ना बच्चे के हाथ से लड्डू छीनकर खा लेना जैसा सरल कार्य नहीं है। दीर्घकाल तक साधना करते करते तब कहीं उनकी कृपा होती है। तब एक ओर जैसे साधक की विषयासक्ति दूर होती है, वैसे ही दूसरी ओर उसके मन में भगवान् के प्रति भक्ति-प्रेम होता है। भगवान् के प्रति आकर्षण जितना प्रबल होगा, अन्य विषयों से उतनी ही विरक्ति और वैराग्य होगा और उसके मन में भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट धारणा होगी तथा संशय दूर होगा। 'भागवत' के एक श्लोक में इस अवस्था का बड़े ही सुन्दर शब्दों में वर्णन हुआ है—

> भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
> रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
> प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
> स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥११/२/४२

—जैसे किसी व्यक्ति को बहुत दिनों से खाने को कुछ न मिला हो, और जब उसे खाने के लिए दिया जाय तो एक-एक ग्रास मुँह में डालने के साथ ही साथ उसके मन का क्षुधाजनित असन्तोष दूर होता जाता है, दुर्बलता दूर होती

जाती है, क्षुधा की यंत्रणा दूर होती जाती है, ठीक वैसे ही जो भगवान् की ओर बढ़ेगा, उनके शरणागत होगा, उसे भी इसी तरह की अनुभूति होगी। भगवान् के चरणों में उसका भक्ति-प्रेम बढ़ेगा, उनके स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट धारणा होगी और भगवान् को छोड़ अन्य विषयों से विरक्ति होगी, वैराग्य का उदय होगा। यही कसौटी है। अश्रु, पुलक आदि विश्वसनीय लक्षण नहीं हैं।

ईश्वर-दर्शन और धैर्य

कोन्नगर के एक भक्त ने ठाकुर को परखना चाहा—"सुना है कि महाशय ईश्वर-दर्शन करते रहते हैं, तब तो हमें भी दिखा दीजिए।" ठाकुर उसे क्या उत्तर देते हैं? कहते हैं, "सब कुछ ईश्वर के आधीन है, मनुष्य क्या करेगा? उनका नाम लेते-लेते कभी पकड़ में आ जाता है, कभी नहीं आता। उनका ध्यान करते-करते कभी-कभी विशेष उद्दीपन होता है, फिर कभी कुछ भी नहीं होता।" ठाकुर का ऐसा कहने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि हमारे मन में हताशा न आवे। बहुत काल बाद भी जब हमारे मन में उद्दीपना नहीं आती, जब हम अपने अन्तःकरण में उनके दर्शन पाने और उनके प्रेम में डूबने के आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते, तब अधीर हो उठते हैं और यह कहते हुए शिकायत करते हैं कि कुछ भी तो नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्था के लिए यह उनकी आश्वासन वाणी है कि सब कुछ ईश्वर के आधीन है, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहो। बाइबिल के Parable of Ten Virgins में तथा पुराण के शबरी उपाख्यान में भी उसी प्रतीक्षा की बात कही गयी है। वर की अभ्यर्थना करके ले जाएँगे, यह सोचते हुए दस तरुणियाँ दीपक जलाकर प्रतीक्षा में खड़ी हैं,

लेकिन वर अभी तक नहीं आया । इसी बीच दीपक का तेल समाप्त होने से दीपक बुझ गया । तब उनमें से कुछ तरुणियाँ तेल लाने चली गयीं, लेकिन कुछ यह सोचकर रुक गयीं कि इसी बीच कहीं वर आकर लौट न जाय । और सचमुच थोड़ी देर बाद वर आया; जिन तरुणियों ने धीरज रखकर प्रतीक्षा की थी, उन्होंने उसकी अभ्यर्थना की । इसी तरह शबरी भी किशोरावस्था से श्री रामचन्द्र की प्रतीक्षा करती रही । कौमार्य गया, यौवन गया, वृद्धावस्था आ गयी और शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया, तब कहीं उनके इष्टदेवता का आगमन हुआ । ठाकुर के कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् को नहीं पाया इसलिए संसार में डूबकर रहने से नहीं चलेगा । उनका ध्यान करते हुए व्याकुल होकर उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।

ईश्वर-लाभ साधना-सापेक्ष

'ईश्वर का दर्शन करा दीजिए'—ठाकुर इस बात का क्या उत्तर देते हैं? दर्शन इस तरह नहीं होता, उसके लिए तैयारी चाहिए । इसलिए कहते है, "कर्म चाहिए, तब दर्शन होता है ।" एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने भावावस्था में हालदारपुकुर (तालाब) को देखा था; उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं, "मानो दिखा दिया कि काई को हटाये बिना पानी दिखाई नहीं देता—कर्म किये बिना भक्ति नहीं होती, ईश्वर-दर्शन नहीं होता । जप, ध्यान, यह सब कर्म है, उनका नाम-गुण-कीर्तन भी कर्म है; फिर दान-यज्ञ आदि भी कर्म है ।" इनमें दान, यज्ञ आदि सब वैधकर्म हैं । पहले कहे गये जप-ध्यान, कीर्तन आदि अपेक्षाकृत अन्तरंग साधन हैं । ऐसा नहीं कि इन कर्मों के द्वारा ईश्वर मिलते हों; वे तो केवल अपनी कृपा से मिलते हैं ।

इसके पहले उन्होंने कहा था, "सब कुछ ईश्वर के आधीन है।" तो फिर कर्म क्यों? इसलिए कि मनुष्य कभी भी कर्म छोड़कर नहीं रह सकता, और सचमुच भगवान् यदि हमारे काम्य हों तो जो कर्म हमें उनकी याद दिला दे, वही करना कर्तव्य है।" इस विषय में अन्यत्र एक स्थान पर ठाकुर ने एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है— एक चोर चोरी करने के लिए एक घर में सेंध लगाकर भीतर पहुँचा। उसने देखा कि वह गलती से दूसरे घर में आ गया है। उस घर में सोना नहीं है। सोना तो बगलवाले घर में है। तब वह चोर क्या करेगा? क्या चुपचाप बैठ जाएगा? नहीं, उस सोने को पाने के लिए उसके प्राण छटपटाएँगे कि किस तरह दीवाल को छेदकर सोने को पा लूँ। इसी तरह जो सचमुच ही भगवान् का दर्शन चाहता है, वह उनकी कृपा की राह देखते चुपचाप बैठा नहीं रह सकता; वह तो अस्थिर होकर, व्याकुल होकर छटपटाता रहेगा, और जिन साधनों से उन्हें पाया जा सकता है उन्हीं में अपने को नियोजित करेगा। इसीलिए ठाकुर कहते हैं—कर्म चाहिए। "यदि मक्खन चाहते हो तो दूध का दही जमाना पड़ता है, उसे निर्जन में रख देना पड़ता है। फिर दही जमने पर उसे परिश्रमपूर्वक मथना पड़ता है, तब जाकर कहीं मक्खन हाथ लगता है।" अतः दिखा देने का अर्थ यदि यह हो कि साधन-भजन कुछ नहीं करेंगे, निष्क्रिय होकर बैठे रहेंगे, तो ऐसे नहीं होता। इसीलिए थोड़ी देर बाद ठाकुर कह रहे हैं, "यह तो अच्छी बना हुई! ईश्वर को दिखा दो, और वे चुपचाप बैठे रहेंगे! मक्खन उठाकर मुँह के सामने रखो!"

ऐसी बात भी नहीं है कि कुछ न कर चुपचाप बैठे

रहने से नहीं होगा। लेकिन वह बहुत कठिन है। उस अवस्था में स्वयं का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता, कोई कर्तृत्व नहीं रहता। सभी अवस्थाओं में अपने को अकर्ता जानना होता है, यह भाव रहता है कि मैं द्रष्टामात्र, साक्षीमात्र, यंत्र-मात्र हूँ, इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु साधारण लोगों के लिए ऐसा भाव रख पाना कभी सम्भव नहीं है। ईश्वर को पुकारते समय यह भाव तो आता है कि वे यदि कराएँगे तो करूँगा, लेकिन व्यवहार में उसका कर्तृत्वभाव, अहंभाव कब चकमा देकर उठ खड़ा होगा, इसका ख्याल नहीं रहता, और वहीं पर मन के साथ जबर्दस्त दगाबाजी हो जाती है। इसलिए हम जैसे सामान्य लोगों के लिए उनका निर्देश है--'कर्म चाहिए, तब दर्शन होगा।'

ठाकुर जब कर्म की बात कहते हैं, तब महिमाचरण उत्तर में कहते हैं, "जी हाँ, कर्म करना ही चाहिए। बहुत खटना पड़ता है, तब मिलता है। कितना तो पढ़ना ही पड़ता है। अनन्त शास्त्र हैं।" इस पर ठाकुर कहते हैं, "शास्त्र कितना पढ़ोगे ? केवल विचार करने से क्या होगा? पहले उन्हें पाने की चेष्टा करो, गुरुवाक्य में विश्वास करके कुछ कर्म करो। गुरु नहीं है तो उनसे व्याकुल होकर प्रार्थना करो; वे कैसे हैं यह वे स्वयं समझा देंगे।"

शास्त्र, शरणागति और गुरु

यहाँ मुख्य बात है गुरु और शास्त्रवाक्य में विश्वास, जिसका अर्थ है श्रद्धा। केवल विचार करने से क्या होगा ? जब हम उन्हें विचार के द्वारा जानने की चेष्टा करते हैं, तब तरह-तरह की केवल दिमागी कसरत ही करते हैं। उनका स्वरूप इस बुद्धि के द्वारा समझ में नहीं आता, लेकिन इस बुद्धि को छोड़कर हमारे पास कोई दूसरा यंत्र

भी तो नहीं है, जिसके सहारे हम उन्हें समझ सकें। इसलिए हमें शास्त्रों में विपरीत उक्तियाँ मिलती हैं। कहीं पर कहते हैं कि 'मन के द्वारा उन्हें नहीं जाना जा सकता'—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्', फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं, 'मन के द्वारा ही उनको जानना होगा'—'मनसैवेदमाप्तव्यम्'। इन परस्पर-विरोधी उक्तियों का तात्पर्य यह है कि वे इस मन-बुद्धि के अगोचर होते हुए भी शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि के लिए गोचर हैं। मन और बुद्धि के शुद्ध होने पर ही उसमें शास्त्र का मर्म प्रकट होता है, और तब साधक के लिए अनन्त शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि विचारों के द्वारा आत्म-तत्त्व नहीं मिलता। कहा भी तो है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया', 'न मेधया न बहुना श्रुतेन'। आवश्यकता है गुरुवाक्य और शास्त्र में विश्वास की, आवश्यकता है शुद्ध बुद्धि की। जिन सरसों के दानों से भूत भगाना हो, यदि उनमें ही भूत घुसा बैठा हो तो भूत कैसे भागेगा? इसी तरह जिस बुद्धि के द्वारा शास्त्र का मर्म समझना है, यदि वही शुद्ध न हो तो शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ? महिमा-चरण को पाण्डित्य का अभिमान था, इसलिए ठाकुर ने विशेष रूप से उनसे शास्त्रपाठ की निष्फलता की बात कहकर श्रद्धा, विश्वास और व्याकुलता पर जोर दिया। बोले, "किताब पढ़कर क्या जानोगे? जब तक बाजार में नहीं पहुँच जाते तब तक दूर से केवल हो-हल्ला ही सुनाई देता है। बाजार में पहुँच जाने पर दूसरे ही प्रकार से सब सुनाई देता है। तब सब कुछ स्पष्ट देख सकोगे, सुन सकोगे—'आलू लो', 'पैसा दो', स्पष्ट सुन पाओगे। समुद्र दूर से हो-हो शब्द करता है। पास जाने पर कितने जहाज जा

रहे हैं, पक्षी उड़ रहे हैं, लहरें उठ रही हैं, यह सब देख पाओगे। किताब पढ़कर ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता। बहुत अन्तर है। उनके दर्शन के बाद किताब, शास्त्र, साइन्स—सब घास-फूस की तरह लगते हैं।"

इस प्रकार ठाकुर बार-बार ईश्वर को जानने पर जोर देते हैं। लेकिन केवल शास्त्र पढ़ने से वह नहीं होता। शास्त्र अनन्त हैं, फिर उनमें परस्पर-विरोधी उक्तियाँ मिलती हैं, उनका सामंजस्य कौन करेगा? शास्त्र में सार और असार दोनों प्रकार की वस्तुएँ मिली हुई हैं—जैसे शक्कर और रेत के दाने मिले रहते हैं। इसीलिए कह रहे हैं—एकान्तभाव से शरणागत होकर प्रार्थना करो, वे स्वयं ही अपना स्वरूप समझा देंगे। उस जानकारी को तब शास्त्र से मिला लेना होगा। श्रुति, युक्ति और अनुभूति—इन तीनों को मिला लेना होगा। शास्त्र हुआ श्रुति; वह युक्ति या बुद्धिग्राह्य है या नहीं, तथा वह उपलब्धि के साथ मिलता है या नहीं—यह देखने के लिए ही शास्त्र की आवश्यकता है। इसीलिए कह रहे हैं—"शास्त्र कितना पढ़ोगे? केवल विचार करने से क्या होगा?" जिस मन के द्वारा मैं जानूँगा, वह मन ही अगर अस्वस्थ है, विकार-ग्रस्त है अथवा मलिन हो गया है, तो उसके द्वारा सत्य कैसे उद्घाटित होगा? इसलिए पहले मन को विकारमुक्त करने की आवश्यकता है, तथा इसके ही उपाय के रूप में कहते हैं—"गुरुवाक्य में विश्वास करके कुछ कर्म करो।" 'गुरुवाक्य में विश्वास' यही बुनियादी बात है। विश्वास न रहने से किसके सहारे साधना करोगे? जो श्रद्धाहीन है, वह किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। जहाँ श्रद्धा नहीं है, वहाँ 'यह नहीं, वह नहीं, वह भी नहीं'—

ऐसा सर्वत्र ही संशय बना रहता है, मानो 'नहीं' की समष्टि हो! अतः श्रद्धाहीन व्यक्ति की अवस्था 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' (अर्थात् यहाँ से भी गया और वहाँ से भी गया) के समान हो जाती है। यह श्रद्धा ही साधना की पहली सीढ़ी है। इसके बाद श्रद्धापूर्वक गुरु की आज्ञा का निष्ठापूर्वक पालन करना साधना की दूसरी सीढ़ी है।

श्रद्धाहीन व्यक्ति अशुद्ध मन से शास्त्र पढ़कर जो ज्ञान अर्जित करता है, उसकी तुलना ठाकुर ने समुद्र की हो-हो आवाज से या दूर से सुनाई दे रहे बाजार के शोरगुल से की है। जैसे बाजार के विभिन्न शब्दों के मिलने से होनेवाली विचित्र आवाज का अथवा समुद्र के हो-हो शब्द का कोई अर्थ नहीं होता, वैसे ही अशुद्ध मन से शास्त्र पढ़ने से उसका कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता। धर्म का स्वरूप 'निहितं गुहायाम्'—गुहा में छिपा हुआ है, वह इस बुद्धि के अगोचर है। प्रवचन करनेवाले पण्डितगण शास्त्र पढ़कर अधिक से अधिक उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या कर सकते हैं, बस यहीं तक। कहा भी तो गया है—'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'—ऐसे दो मुनि नहीं हैं जिनके मत भिन्न-भिन्न न हों! अतः 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' (महापुरुष जिस रास्ते से गये हैं वही पथ है) इस नीति को मानकर जो शास्त्र से पार गये हैं, परमतत्त्व तक पहुँचे हैं, उनके निर्देश को श्रद्धापूर्वक मानकर चलना ही हमारा कर्तव्य है। इसी बात को ठाकुर ने समझाना चाहा है।

ठाकुर कहते हैं, "उनके दर्शन के बाद किताब, शास्त्र, साइन्स—सब घास-फूस की तरह लगते हैं।" यहाँ ठाकुर के कहने का अभिप्राय यह है कि भगवद्दर्शन के द्वारा जिस तत्त्व की उपलब्धि होती है, वह किताब पढ़ने से नहीं होती।

किताब तो मनुष्य का दिमागी उधेड़बुन है । बुद्धिगम्य वस्तुओं को लेकर ही साइन्स का कारोबार चलता है । साइन्स केवल इन्द्रियगम्य वस्तुओं की ही जानकारी दे सकता है, अतीन्द्रिय जगत् की नहीं । अतः भगवद्दर्शन या ईश्वरानुभूति होने पर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य ये वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं । जिन्हें ईश्वर-दर्शन नहीं हुआ है, उनके लिए निःसन्देह इस तुच्छता के परिमाण को समझ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारा सारा सांसारिक ऐश्वर्य साइन्स की ही कृपा से है । शास्त्र के प्रसंग में ठाकुर अन्यत्र एक स्थान पर कहते हैं— पंचांग में लिखा है, बीस इंच वर्षा होगी, पर उस पंचांग को निचोड़ने पर पानी की एक बूँद भी न निकलेगी । यह सच है कि शास्त्रों में बहुत सी बातें लिखी हुई हैं, लेकिन श्रद्धाहीन होकर पढ़ने से उनका रस नहीं मिलता । वात्सल्य-रस के बारे में किताबों में बहुत कुछ पढ़ते हैं, लेकिन अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य के उमड़ने पर जिस रस की अनुभूति होती है, उसके सामने किताबी ज्ञान तुच्छ है । फिर भी जैसे स्वयं एक बार वात्सल्य-रस का अनुभव कर लेने के बाद हम देखते हैं कि किताब में जो लिखा है, उसके साथ उसका मेल बैठ जा रहा है, उसी तरह ईश्वरानुभूति होने के बाद उन अनुभूतियों को शास्त्र के साथ मिला लिया जाता है तथा शास्त्र का रस ग्रहण किया जाता है ।

सहज उपाय : व्याकुलता और निर्जन-वास

स्वयं की उपलब्धि ही असल बात है, वहाँ पुस्तकीय विद्या तुच्छ है; 'तत्र....वेदा अवेदाः', इसलिए ठाकुर उपदेश देते हैं, "बड़े बाबू से मुलाकात करने की जरूरत है, उनके कितने मकान हैं, कितने बगीचे हैं, कितने कम्पनी के कागज

हैं, यह सब जानने के लिए अभी से इतने उतावले क्यों हो रहे हो ? नौकर-चाकरों के पास जाने से वे खदेड़ देंगे, फिर कम्पनी के कागज की खबर कौन देगा ? लेकिन किसी तरह एक बार यदि बड़े बाबू से मुलाकात कर लो,—चाहे धक्के खाकर हो, चाहे दीवाल फाँदकर,—तब कितने मकान हैं, कितने बगीचे हैं, कितने कम्पनी के कागज हैं, यह सब वे स्वयं ही बता देंगे । बाबू से मुलाकात हो जाने पर तो फिर नौकर-चाकर, दरवान सब सलाम करेंगे !" ठाकुर ने तो अत्यन्त सहज भाव से कह दिया, "बड़े बाबू से मुलाकात करने की जरूरत है", लेकिन मुलाकात करें कैसे ? इसलिए ठाकुर उपाय भी बतलाते हैं । कहते हैं, "निर्जन में उन्हें पुकारो, प्रार्थना करो, 'दर्शन दो' कहकर व्याकुल होकर रोओ । काम-कांचन के लिए पागल होकर घूम सकते हो; भगवान् के लिए तो थोड़ा पागल होओ । लोग कहें तो कि अमुक व्यक्ति ईश्वर के लिए पागल हो गया है । चाहे थोड़े दिन के लिए ही सही, सब कुछ छोड़कर उन्हें अकेले में पुकारो तो ।" अधिक दिन कहने से तो कोई पुकारेगा नहीं, इसलिए ठाकुर कह रहे हैं—चाहे थोड़े दिन के लिए ही सही, उनको अकेले में पुकारो तो ! भगवान् को पाने के लिए उन्होंने बहुत अनुष्ठान, याग-यज्ञ, जिसमें हजारों रुपयों का खर्च हो, कृच्छ्रसाधना आदि की बात नहीं कही । केवल एक ही बात कही—"निर्जन में व्याकुल होकर उन्हें पुकारो ।" लेकिन यह व्याकुलता आन्तरिक होनी चाहिए । केवल मुँह से नहीं, पुकार अन्तःकरण से होनी चाहिए । आग्रह होना चाहिए । उपाय सुनने में तो बहुत सरल है, लेकिन हम लोगों की बुनियाद ही जो गलत है—निर्जन में जाने का तो अवकाश ही नहीं है और रोना

आता नहीं, फिर उनको किस तरह पाएँगे ? कबीर ने भी यही बात कही है--"खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पल भर की तलाश में ।" भगवान् कहते हैं कि यदि तुम मुझे एक पल या एक क्षण के लिए भी चाहो तो उसी क्षण मैं तुमसे आ मिलूँगा । यही एकाग्र और एकान्त भाव से उन्हें चाहना है, पर यही हमसे नहीं होता । इसीलिए इसका अभ्यास करने के लिए कहा गया है कि निर्जन में पुकारना होगा । निर्जन उसे कहा गया है, जहाँ मन किसी अन्य दिशा में आकृष्ट न होवे । सहारा मरुस्थल या गम्भीर वन, जहाँ बाघ-भालू रहते हैं, निर्जन नहीं कहा जाता । जहाँ मन को खींचनेवाले लोग न हों, वह स्थान ही निर्जन है । जो आन्तरिक भाव से भगवच्चिन्तन करते हैं, साधना करते हैं, उन सब लोगों को इसकी जानकारी है । जैसे मान लो कोई मन समेटकर बैठा है और उसी समय कुछ चोट लगने से बच्चा रो उठा, माँ का सारा मन उस ओर चला गया । अपराध किसका है---बच्चे का या हमारे मन का ? भगवान् को छोड़कर चारों ओर मानो कान खड़े हुए हैं कि आवाज कहाँ से आ रही है । अतः ऐसी स्थिति में मन को एकान्त भाव से भगवान् की ओर लगाने या प्रेरित करने की चेष्टा सार्थक नहीं हो पाती, अथवा यह कहना चाहिए कि चारों ओर से विक्षेप होने के कारण चेष्टा ही नहीं हो पाती । इसीलिए निर्जनता की आवश्यकता होती है । लेकिन केवल निर्जन में जाने से तो होगा नहीं, व्याकुल होकर पुकारना होगा । बहुत से लोग निर्जन में रहते हैं, लेकिन उनके मन में भगवान् की बात उठती ही नहीं है । वह निर्जनता उनके लिए इस सन्दर्भ में किसी काम की नहीं होती । वे उसे त्रासदायक समझते हैं । इसलिए केवल निर्जनता ही नहीं,

व्याकुलता भी चाहिए। यदि कोई यह पूछे कि किस तरह व्याकुल होकर रोऊँ, तो वे कहते हैं, "क्यों, विषयों के लिए, संसार के लिए, रो-रोकर घड़े भर आँसू बहा सकते हो, और भगवान् के लिए आँखों से एक बूँद आँसू नहीं गिरता!" रो-रोकर घडे भर-भर आँसू गिराना तो आता ही है। उपाय नहीं है, क्योंकि मन ही वैसा बना है। इसीलिए वे कह रहे हैं कि जो मन विषयों के पीछे इतना भाग रहा है, इतना पागल है, उसे भगवान् की ओर मोड़ो। 'विष्णुपुराण' में प्रह्लाद कहते हैं—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥१/१०/१९

—अविवेकी अज्ञानी मनुष्यों का विषयों के प्रति जैसा अक्षय प्रेम होता है, हे प्रभु, मैं जब तुम्हारा चिन्तन करूँ तब तुम्हारे प्रति मेरे मन में मानो वैसा ही प्रेम होवे। ठाकुर कहते हैं कि उतने से भी नहीं होगा, और भी चाहिए। विषयी का विषय के प्रति, सती का पति के प्रति तथा माँ का सन्तान के प्रति जो खिंचाव होता है, वे तीनों खिंचाव यदि एकत्र हो ईश्वर की ओर लगें तभी वे मिलते हैं। जिस विषय का अनुभव न हो उसका दृष्टान्त देने से बात समझ में नहीं आती। मनुष्य को इन खिंचावों का अनुभव है, इसीलिए यह दृष्टान्त दिया गया। लेकिन 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।'

अभ्यास और साधना

सभी चाहते हैं कि कोई ऐसा सरल रास्ता हो, कोई हाथ की सफाई हो या कोई मंत्र हो, जिससे मन झट से भगवान् में लग जाय। लेकिन यह होने का नहीं है। ऐसा कोई जन्तर-मन्तर नहीं है, जिसके द्वारा मन एकदम एकाग्र

हो जाय। यदि होता तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वह रास्ता बता दिया होता। लेकिन वे भी कहते हैं कि सचमुच मन अत्यन्त चंचल है, और उसको स्थिर करने का उपाय है—अभ्यास एवं वैराग्य। अभ्यास माने बार-बार चेष्टा करना और वैराग्य माने विषय आदि जो मन को खींच रखते हैं, उन्हें तुच्छ समझना। ऐसा करने से फिर मन उस ओर नहीं जाएगा। यही एकमात्र उपाय है। इसे छोड़कर और कोई उपाय नहीं है। ठाकुर कहते हैं, " 'वे हैं' कहकर बैठे रहने से क्या होगा? हालदारपुकुर में बहुत मछलियाँ हैं। पर उसके किनारे बैठे रहने से क्या मछली मिल जाएगी? चारा लाओ, चारा डालो। धीरे-धीरे गहरे पानी से मछली ऊपर आएगी और पानी हिलेगा। तब मन में प्रसन्नता होगी। शायद मछली थोड़ी-सी दिख गयी—छपाक् से उछल पड़ी। जब दिख गयी तब और अधिक आनन्द आया।" भगवान् हैं, यह सोचकर न बैठे रहें; यदि वे सचमुच काम्य हैं तो उन्हें खोजना होगा। उनको पाने का जो रास्ता है, उस पर चलकर आगे बढ़ना होगा। "दूध का दही जमाकर, उसे मथकर ही तो माखन पाओगे।" अवश्य ही हम लोग यह जानते हैं कि ठाकुर में असाधारण ईश्वरीय शक्ति थी और वे इच्छा मात्र से भक्तों को सब कुछ दे सकते थे, लेकिन वैसी शक्ति और किसमें है? फिर यदि कोई स्वयं कुछ न करना चाहे तो इसका मतलब है कि अभी उसके मन में ईश्वर की आवश्यकता या उन्हें पाने की आकांक्षा प्रबलता से नहीं उठी है। हम सोचते तो हैं—अहा, भगवान् को पा लेने से क्या ही अच्छा होता! जब वे मेरी मुट्ठी में आ जाएँगे, तब संसार को समेट लूँगा! पर बात यह है कि वास्तव में हममें से कोई भगवान् को

नहीं चाहता, उन्हें जीवन का उद्देश्य या लक्ष्य नहीं समझता, हम तो उन्हें मात्र साधन समझते हैं। भगवान् हँसते हैं——तुम स्वयं अपने कर्मफल में अपने को बाँध ले रहे हो, मैं क्या करूँ !

यह कर्मफल हमारी ही सृष्टि है। चारों ओर वासना का जाल बुनकर हम स्वयं उसके बीच फँस रहे हैं। जाल काटकर निकलने का रास्ता तो है, पर निकलने की इच्छा नहीं है। जैसा कि ठाकुर ने कहा है, जाल के भीतर मछली घूमती है, चाहे तो वह उसी रास्ते से निकल भी सकती है, पर निकलती नहीं है, सोचती है——रास्ता नहीं है। हम लोगों ने अपने आपको बहुत-सी वासनाओं में फँसा रखा है। वासना अभी बाकी है, इसलिए हम संसार के बन्धनों से निकल नहीं पा रहे हैं। इसीलिए ठाकुर पुनः कहते हैं—सात ड्योढ़ियों के पार राजा है, ड्योढ़ियों को एक-एक करके पार करना होगा। लेकिन हममें वह धैर्य कहाँ है? हम कहते हैं—देखो न, सात दिन तक तो भगवान् को पुकारा, पर वे मिले कहाँ? मानो कोई बँधा-बँधाया नियम हो कि सात दिनों तक उनका नाम लेने पर वे आकर प्रकट हो जाएँगे ! यदि मैं उन्हें हृदय से चाहता, तो जीवन भर उनके लिए प्राणपण से खटने पर भी मन में यह न आता कि मैंने यथेष्ट कर लिया। उल्टे हम सोचते हैं कि अन्य वस्तुओं को तो चेष्टा करके पा लेते हैं, पर भगवान् को तो चेष्टा करने पर भी नहीं पा सके। हमें इस बात का ध्यान नहीं रहता कि हमारी चेष्टा ही आन्तरिक नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या वे हमें हवा की भाँति अनिवार्य लगते हैं? उन्हें नहीं पाने से क्या हमें अपना दम घुटता अनुभव होता है ? उन्हें पा लेने के लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन खपा

दिया, और हम सोचते हैं कि १०८ बार जप करने में तो बहुत समय लगेगा, क्या कुछ कम करने से काम नहीं चलेगा? क्या इसी का नाम 'यथेष्ट चेष्टा' है? उनके बिना भी हमारे दिन बीत ही रहे हैं, अतएव उनके लिए अधिक दाम चुकाने की प्रवृत्ति भी नहीं होती, और इसीलिए हम उनको पाते भी नहीं। गुरुवाक्य में अथवा शास्त्रवाक्य में विश्वास करके जो अन्तःकरण से व्याकुल होकर चेष्टा करता है, वह अवश्य पाता है।

व्याकुलता और कृपा

ठाकुर ने इससे पहले ही कहा है, "इसीलिए कर्म चाहिए।" अब की बार महिमाचरण पूछते हैं, "क्या कर्म के द्वारा उन्हें पाया जा सकता है?" इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "इस कर्म के द्वारा वे मिलेंगे और इस कर्म के द्वारा नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह उनकी कृपा पर निर्भर करता है। फिर भी व्याकुल होकर कुछ कर्म करना पड़ता है। व्याकुलता होने से उनकी कृपा होती है।" इस प्रसंग में माँ सारदादेवी का उपदेश स्मरणीय है। एक भक्त ने उनसे पूछा, "माँ, जप करने से होता है?" अर्थात् ईश्वर-दर्शन होता है? माँ बोलीं, "नहीं।" "अच्छा, ध्यान करने से होता है?" "नहीं।" "तब किससे होता है।" "उनकी दया होने से होता है।" उनकी दया के बिना केवल इन कर्मों की सहायता से उन्हें नहीं पाया जा सकता। वे इतनी दुर्लभ वस्तु हैं कि उनको पाने के लिए यथेष्ट साधना करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। हम जितनी भी साधना करते हैं, वह उनको पाने के लिए बहुत ही कम है। यह बात ध्यान में रखने से किसी के मन में साधना का अहंकार नहीं आ सकता। साधना का अहंकार बड़ा भयंकर होता है। मैं

इतना जप करता हूँ, इतनी देर ध्यान करता हूँ––यह अहंकार साधक की समस्त साधना को निष्फल कर देता है। इसलिए कहते हैं––उनकी कृपा होने पर वे मिलते हैं। और व्याकुल होने पर ही उनकी कृपा होती है। इसलिए व्याकुल होकर कुछ कर्म किये जाना पड़ता है। व्याकुलता रहने पर वे स्वयं सुयोग बना देते हैं––"साधुसंग, विवेक, सद्गुरु-लाभ; हो सकता है बड़े भाई ने संसार का भार ले लिया; हो सकता है स्त्री विद्याशक्ति––बड़ी धार्मिक मिल गयी; या हो सकता है विवाह ही नहीं हुआ, संसार में फँसने से बच गया––यह सब योगायोग होने से काम बन जाता है।" अर्थात् जो कातर होकर उन्हें पुकारता है, उसका सब कुछ वे अनुकूल कर देते हैं। व्याकुल होकर उनके शरणागत होने से समस्त प्रतिकूलता दूर हो जाती है। इस विषय में ठाकुर यहाँ पर एक वहुत सुन्दर कहानी सुनाते हैं––एक आदमी के घर में कोई बहुत बीमार था, हालत अब-तब हो रही थी। किसी ने कहा, स्वातिनक्षत्र में वर्षा का जल यदि कंकाल के कपाल पर पड़े और उसी समय एक साँप मेंढक को पकड़ने के लिए मुँह खोलकर झपटे, लेकिन मेंढक के उछलकर भागने से साँप का विष उस कपाल पर गिर पड़े, तो उस विष के द्वारा तैयार की गयी औषध से व्यक्ति बच सकता है। यह सुनकर जिसके घर में रोगी था, वह ग्रह-नक्षत्र देख औषध की खोज में निकला और व्याकुल होकर ईश्वर को पुकारने लगा। सचमुच जिस समय स्वातिनक्षत्र का जल कंकाल के कपाल पर पड़ा, उसकी व्याकुलता और बढ़ गयी। आस्ते-आस्ते मेंढक भी आ गया और एक साँप भी मेंढक को पकड़ने के लिए दौड़ा। तब वह व्यक्ति बाकी घटनाओं के लिए इतना व्याकुल हो

उठा कि उसकी छाती धक्-धक् करने लगी। आर्त होकर वह ईश्वर को पुकारने लगा, और सचमुच कंकाल के कपाल के पास आ मेंढक ने ऐसी छलाँग लगायी कि उसे पकड़ने के लिए झपटते साँप के मुँह से विष की बूँदें कपाल पर टपक पड़ीं। तो, चाहे किसी भी विषय में हो, यदि अन्तः-करण में व्याकुलता हो तो इसी प्रकार योगायोग बन जाता है। यह कहानी सुनाकर ठाकुर कहते हैं, "इसीलिए कहता हूँ, व्याकुलता रहने से सब हो जाता है।" उनकी कृपा के लिए अन्य कोई शर्त नहीं है। यदि कोई उनके लिए अन्तःकरण से व्याकुल होता है तो वे उसे कभी भी निराश नहीं करते। जैसा कि ठाकुर ने अन्यत्र एक दृष्टान्त दिया है—बच्चे खिलौना लेकर भूले रहते हैं, खेल में मस्त रहते हैं। माँ निश्चिन्त होकर घर का काम-काज करती रहती है। लेकिन बच्चा जब खिलौना फेंककर माँ के लिए व्याकुल होकर रोता है, तब माँ भात की हण्डी चूल्हे से उतारकर झट दौड़ आती है और बच्चे को गोद में उठा लेती है।

○

मानस-रोग (९)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर मब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनका नवाँ प्रवचन और इस प्रकरण पर उनकी प्रवचन-माला के प्रथम वर्ष का अन्तिम प्रवचन है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

भगवान् श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा से प्रति वर्ष श्रद्धेय स्वामीजी महाराज मेरा स्मरण करते हैं और इस प्रकार मुझे आश्रम के पवित्र प्रांगण में श्री विवेकानन्द-जी की जयन्ती के पावन सन्दर्भ में रामकथा कहने का अवसर प्राप्त होता है। जैसा मैं कह चुका हूँ, रामकथा तो जहाँ भी कही जाती है सुखद ही प्रतीत होती है, पर यहाँ आकर मुझे और भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। आप लोग सौभाग्यशाली हैं। मानस-रोगों का प्रसंग आप लोगों के सामने चलता आ रहा है। विगत आठ दिनों में इन मानस-रोगों का स्वरूप क्या है इसका सूक्ष्म पर संक्षिप्त विवेचन आपके सामने रखने की चेष्टा की गयी है। इन रोगों की औषधि के लिए प्रत्येक व्यक्ति के मन में व्यग्रता का होना स्वाभाविक ही है। आज 'छत्तीसगढ़ बन्द' से कुछ लोगों को आशंका थी कि शायद आने-जाने में वाहन आदि की कठिनाई के कारण प्रवचन में आने में समस्या उत्पन्न हो। हमारे स्नेहपात्र प्रेमचन्दजी संस्मरण सुना रहे थे कि किसी ने उनसे कहा—अन्तिम दिन तो जाना ही चाहिए, क्योंकि सुनते हैं अन्तिम दिन ही दवा बँटनेवाली है। लगता

है आप लोगों के संकल्प के कारण वह अवरोध समाप्त हो गया। पर यह अवश्य बता दें कि दवा आज ही बँटनेवाली है ऐसी कोई बात नहीं है। सच पूछिए तो इस पवित्र आश्रम में निरन्तर मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के रोगों की चिकित्सा चल रही है। आप यहाँ आकर चिकित्सा और औषधि प्राप्त कर सकते हैं। और आप लोग सौभाग्य-शाली हैं कि यहाँ अचल-चिकित्सा के साथ-साथ सचल-चिकित्सा का भी प्रबन्ध है। यह बात शारीरिक और मानसिक दोनों चिकित्साओं के सन्दर्भ में कही जा सकती है कि आश्रम में नियमित सत्संग के माध्यम से मनोरोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध है और औषधालय के माध्यम से शारीरिक चिकित्सा का। सच बात तो यह है कि स्वामी विवेकानन्दजी महाराज जिनकी यह पावन जयन्ती है, एक व्यक्ति मात्र नहीं थे अपितु एक संस्था थे। जिस समय उनका प्रादुर्भाव हुआ था, सारा समाज अस्वस्थता और मनोरोग से पीड़ित था। वे युगविभूति के रूप में भगवान् श्रीरामकृष्ण के प्रसाद से ऐसी क्षमता प्राप्त करते हैं कि उनके द्वारा व्यक्ति को ही नहीं अपितु मुमूर्षु समाज को भी नयी चेतना प्राप्त हुई। अतएव ऐसे पावन प्रसंग की बेला में यदि वाणी के माध्यम से मैं कुछ कह पाता हूँ तो यह मेरे स्वयं के लिए सौभाग्य की बात है। आदरणीय स्वामीजी महाराज का जो स्नेह है, अपनत्व है, उसका मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ और मुझे उनसे सतत हार्दिक सम्बन्ध की अनुभूति होती रहती है। मुझे विश्वास है कि आप सब यहाँ के सत्संग और चिकित्सा-पद्धति से लाभ लेते रहेंगे। अस्तु! अब आइए, मानस-रोगों के सन्दर्भ में इस बार के अन्तिम प्रवचन में आज और कुछ बातें आपके

सामने रखें। मुझे विश्वास है कि आप नित्य की भाँति एकाग्रता और शान्ति से उसे सुनेंगे।

'रामचरितमानस' में रामकथा के समापन के बाद काकभुशुण्डिजी ने गरुड़जी से पूछा—मैंने यथाशक्ति आपको कथा सुनायी है, क्या अब और कुछ सुनने की आपकी इच्छा है? तब गरुड़जी ने कहा—कृपया आप मेरे सात प्रश्नों का समाधान दें। ये सातों प्रश्न हम सबके जीवन से जुड़े हुए हैं। जो समस्याएँ हमारे सामने आती हैं, इन सातों प्रश्नों में उनका अन्तर्भाव है। उनमें अन्तिम प्रश्न यह था कि लोग इतने दुःखी क्यों हैं? अशान्त क्यों हैं? इसके उत्तर में भुशुण्डिजी ने कहा कि व्यक्ति की अस्व-स्थता ही उसे दुःखी और अशान्त बना देती है, और यह अस्वस्थता दो प्रकार की होती है—शारीरिक तथा मान-सिक। अब कुछ मनुष्य शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो सकते हैं, पर ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा, जो मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ न हो। यहाँ तक कि क्षीरसागर में भगवान् के सान्निध्य में रहनेवाले गरुड़ भी स्वयं अस्वस्थ हो जाते हैं, जिसकी चिकित्सा के लिए उन्हें चारों ओर वैद्य की खोज करनी पड़ती है। तो, वे भुशुण्डिजी से यह जानना चाहते हैं कि व्यक्ति या समाज के जीवन में ये मनोरोग कैसे पैदा होते हैं, इनका स्वरूप क्या है तथा इन रोगों को मिटाने की कोई अमोघ दवा है अथवा नहीं? दूसरे शब्दों में, उन्होंने काकभुशुण्डिजी से यह पूछा कि मानस-रोगों से मुक्त होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है? इस पर काकभुशुण्डिजी ने वैद्य, औषधि और पथ्य आदि की व्यवस्था तो बतलायी, पर साथ ही यह भी कहा कि जो सबसे प्रारम्भिक बात है वह यह है कि व्यक्ति को रोग का सही-सही ज्ञान हो जाय।

तब गरुड़जी ने पूछा—क्या रोगों का ज्ञान हो जाने मात्र से व्यक्ति रोग से मुक्त हो सकता है? भुशुण्डि बोले—नहीं, उससे रोग से पूरी तरह से तो मुक्त नहीं हो सकता, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब व्यक्ति अपने रोग को जान लेता है, तब उसके रोग की शक्ति, उसकी क्षमता कम हो जाती है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

जाने ते छीजहिं कछु पापी (७/१२१/३)

—मन के ये जो पापी रोग हैं, दुर्गुण हैं, इनकी विलक्षणता यह है कि जानने से वे क्षीण हो जाते हैं; पर हाँ—

नास न पावहिं जन परितापी (७।१२१।३)

—वे पूरी तरह से नाश को नहीं प्राप्त होते हैं। जैसे शारीरिक रोग के सन्दर्भ में यदि व्यक्ति को ज्ञात न हो कि वह अस्वस्थ है, तो परिणाम यह होता है कि भीतर ही भीतर उसका रोग बढ़ता रहता है। किन्तु यदि उसे मालूम हो जाता है कि उसके शरीर में किसी प्रकार का रोग हुआ है, तो वह भोजन में, व्यवहार में सतत सावधान रहता है और वैद्य आदि की खोज में लगा रहता है। शारीरिक रोगों के सन्दर्भ का यह सत्य मानसिक रोगों के सन्दर्भ में और भी अधिक सत्य है। कल इसकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया गया था। हमने कहा था कि अन्तःकरण का विभाजन मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में किया गया है और यह कि मानस-रोगों का जो संस्कार है, उनका जो मूल उद्भव है, वह मात्र इसी जन्म का नहीं है, अपितु पूर्वजन्मों से चित्त के संस्कार के साथ जुड़ा हुआ है। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं—

जनम जनम अभ्यास-निरत चित,

अधिक अधिक लपटाई (८२।१)
——अनेक जन्मों से यह मन पाप में लगे रहने का अभ्यासी हो रहा है, इसलिए यह पापरूपी मल अधिकाधिक लिपटता ही चला जाता है।

हमने यह भी कहा था कि रावण का वर्णन भी दो रूपों में किया गया है——एक, राक्षस के रूप में और दूसरा, रोग के रूप में। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में (५८।४) कहते हैं कि रावण मोह का प्रतीक है——'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्राम हारी'। मानस-रोगों के प्रारम्भ में उनके मूल पर विचार करते हुए कहा गया है——

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।। १।१२०।२९

——सब रोगों के मूल में मोह है, उन व्याधियों से फिर और बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। रावण को मूर्तिमान् मोह कहा गया है। उसके अनगिनत पुत्र-पौत्र थे, उसका परिवार बहुत बड़ा था। ऐसे ही जब मनुष्य के अन्तःकरण में मोह आता है, तब उसके द्वारा जीवन में दुर्गुणों का जन्म होता है। तो, मोह को विनष्ट करने की जो पद्धति बतलायी गयी है, रावण के विनाश के लिए भी उसी पद्धति की ओर संकेत किया गया है। उसकी स्वस्थता के लिए हनुमान्जी वैद्य के रूप में भेजे जाते हैं। इसका अर्थ यह था कि रावण यदि अपने को अस्वस्थ अनुभव करता, यदि उसे अपने दुर्गुणों का, अपनी दुर्बलता का, अपनी कमी का भान होता तो वह स्वस्थ हो सकता था। उसे इसी का भान करवाने के लिए भगवान् श्री राघवेन्द्र ने हनुमान्जी के रूप में एक महान् वैद्य को उसके

पास भेजा। हनुमान्जी रावण से कहते हैं कि यदि तुम दो बातें करो, तो तुम स्वस्थ हो जाओगे। उनमें एक का वर्णन करते हुए कहते हैं--

मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान (५।२३)
--मोह से उपजनेवाले तमोमय अहंकार का तुम परित्याग करो। इसका तात्पर्य यह कि रावण ऐसा अनुभव करे कि उसने सीताजी का हरण करके भूल की है, वह अनुभव करे कि उसके जीवन में दुर्बलताएँ हैं, दुर्गुण हैं। और ऐसा अनुभव कर वह उन दुर्गुण-दुर्विचारों को छोड़ने का संकल्प ले। इस प्रकार रावण की चिकित्सा हो सकती है, वह अच्छा हो सकता है।

इसका मूल तात्पर्य यह है कि इस जन्म मे जो रावण दिखाई देता है, वह मात्र इसी जन्म की कृति नहीं है, उसके चरित्र में दिखाई देनेवाली बातों का मूल सस्कार उसके पूर्वजन्म से जुड़ा हुआ है। और अगर आप मिलाकर देखें तो पाएँगे कि रावण के व्यवहार में जो बातें भविष्य में आयीं, उन सबका कोई न कोई मूल सूत्र प्रतापभानु के चरित्र में विद्यमान था। कल प्रतापभानु के लोभ की बात कही जा रही थी। प्रतापभानु के जीवन में जो कभी न तृप्त होनेवाली लोभ की प्रवृत्ति थी, रावण के रूप में उसी का विस्तार होता है। फलस्वरूप रावण स्वर्णमयी लंका का अधिपति बनने की चेष्टा करता है। चार सौ कोस की सोने की लंका पर कुबेर का अधिकार था और सम्बन्ध की दृष्टि से यह यक्ष कुबेर रावण का बड़ा भाई था। फिर भी अपने बड़े भाई की वस्तु को छीनकर अपने लोभ की पूर्ति में रावण को कोई संकोच नहीं होता।

वैद्यों ने रोग के मुख्यत: तीन विभाजन किये हैं—साध्य, कष्टसाध्य और असाध्य। कुछ रोगी ऐसे हैं, जिनका रोग सरलता से दूर हो जाता है। ऐसे रोग को साध्य कहते हैं। दूसरे प्रकार के रोगी स्वस्थ तो हो सकते हैं, पर चिकित्सक को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। ये हैं कष्टसाध्य रोगी। पर कुछ रोगी ऐसे भी होते हैं, जिनका रोग असाध्य होता है। कुशल से कुशल वैद्य और औषध मिलने पर भी इनका रोग दूर नहीं होता। तो, 'रामचरितमानस' में भी आपको दिखाई देगा कि कुछ पात्रों का रोग साध्य है, कुछ का कष्टसाध्य और कुछ का असाध्य। अब लोभ की प्रवृत्ति को ही ले लें। अलग अलग पात्रों के सन्दर्भ में उसकी अलग अलग व्याख्या की गयी है। उदाहरणार्थ, लोभ की अस्वस्थता प्रतापभानु के जीवन में भी है और कैकेयी के जीवन में भी। प्रतापभानु के जीवन में शूकर को लोभ का प्रतीक बताया गया, जबकि कैकेयी के जीवन में मन्थरा को। आपने सांकेतिक रूप में 'रामचरितमानस' में पढ़ा होगा, भगवान् श्री राम के चरित्रक्रम में तीन यात्राएँ हैं और उनके सामने तीन नारी-पात्र आते हैं। जब उन्हें विश्वामित्र लेकर चले, तो ताड़का सामने आयी। जब वे वन को गये तो मन्थरा इसमें हेतु बनी। और उनके लंका पर आक्रमण करने में शूर्पणखा कारण बनती है। ताड़का पर तो भगवान् ने प्रहार किया, एक बाण से उसका वध कर दिया। मन्थरा पर शत्रुघ्न ने प्रहार किया और शूर्पणखा पर लक्ष्मणजी ने। ये तीनों नारी-पात्र, जो त्रेतायुग में इतिहास के पात्र के रूप में आते हैं, वस्तुत: व्यक्ति के अन्त:करण में रहनेवाली क्रोध, लोभ और काम की तीन

वृत्तियाँ हैं--क्रोधमयी ताड़का, लोभमयी मन्थरा और कामवासना से भरी हुई शूर्पणखा। रामराज्य की स्थापना के लिए इन तीनों पर विजय की आवश्यकता है। चारों भाइयों में से तीन भाइयों ने इन तीनों पर प्रहार करने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया, पर बचे हुए श्री भरत की इसमें कोई भूमिका नहीं दिखाई दे रही है, वे किसी प्रकार का प्रहार करते हुए नहीं दिखाई दे रहे हैं। तो क्या उनकी कोई भूमिका ही नहीं है? नहीं ऐसी बात नहीं, उनकी बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है और वह है चिकित्सा की भूमिका। जहाँ अन्य तीनों भाई प्रहार की भूमिका का निर्वाह करते दिखाई देते हैं, वहाँ भरत चिकित्सक के रूप में तीनों वृत्तियों की चिकित्सा करते हुए दीख पड़ते हैं।

हम कह चुके हैं कि मन्थरा लोभ की वृत्ति है और वह कैकेयी के अन्तःकरण में पैठ जाती है। नाम भी कैसा सांकेतिक है—'मन्थरा'! इसका अर्थ है जो अत्यन्त धीरे धीरे चले। जिन लोगों को कोई बुरा कार्य करना होता है, चोरी आदि करनी होती है, वे धीरे चलने में बड़े निपुण होते हैं। ऐसा पैर रखकर चलते हैं, जिससे तनिक भी ध्वनि न हो। जहाँ पैठना चाहते हैं, पैठ जाते हैं। लोभ की वृत्ति भी ऐसी ही है। मन्थरा कैकेयीजी की गहराई में इतनी चतुराई से पैठ गयी कि कब उसने हृदय में प्रवेश पा लिया कैकेयीजी न जान पायीं। प्रारम्भ में कैकेयी में लोभ की यह वृत्ति नहीं थी, पर मन्थरा के रूप में लोभ उनके अन्तःकरण में बैठ जाता है। जैसे मनु और प्रतापभानु के माध्यम से आप लोभ की प्रवृत्ति को हृदयंगम कर सकते हैं, वैसे ही कैकेयी और मन्थरा के माध्यम

से भी लोभ की प्रवृत्ति कैसी होती है इसका संकेत मिलता है। अब लोभ की प्रवृत्ति में एक सांकेतिक बात आती है; मन्थरा से कैकेयी ने पूछा—मैं क्या करूँ ? मन्थरा ने याद दिला दी—आपको महाराज श्री दशरथ ने दो वरदान देने के लिए कहा था, तो बस दो वरदान माँग लीजिए—

दुइ बरदान भूप सन थाती। २।२१।५

और अगला वाक्य क्या कहती है ?—"मागहु आजु"—आज ही माँग लो।

ऐसी कथा आती है कि विवाह के समय महाराज दशरथ कैकेयी के पुत्र को राज्य देने के लिए वचनबद्ध थे। यदि कैकेयी चाहतीं तो वे महाराज दशरथ से कह सकती थीं कि मेरे विवाह के समय आपने मुझसे होने-वाले पुत्र को अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी बनाने की जो प्रतिज्ञा की थी, मैं आपको उसी का स्मरण दिला रही हूँ। अतएव आप मेरे पुत्र भरत को राज्य दीजिए, राम को नहीं। लेकिन मन्थरा ने कैकेयी को ऐसा पाठ पढ़ाया कि कैकेयी ने विवाह के अवसर पर महाराज दशरथ द्वारा की गयी प्रतिज्ञा को महत्त्व नहीं दिया अपितु उन्होंने उनको जो दो वरदान दिये थे उन्हें महत्त्व दिया। इसका तात्पर्य क्या ? यदि कैकेयी में सामान्य रूप से लोभ की प्रवृत्ति आती तो वे भरत के लिए राज्य की याचना करतीं। आप जानते ही हैं कि गोस्वामीजी ने लोभ की तुलना कफ से की है। यदि शरीर में कफ सीमित मात्रा में बना रहे तो वह हानिकारक नहीं है। देखना यह होगा कि वह बढ़कर अपार न होने पावे। इसी प्रकार यदि कैकेयी के मन में यह इच्छा आती कि मेरे पुत्र भरत को राज्य प्राप्त होना चाहिए तो भले ही वह आदर्श स्थिति न होती,

पर वह लोभवृत्ति क्षम्य थी। लेकिन मन्थरा कैकेयी को अत्यन्त लोभी बना देती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मन्थरा-जैसी कूटनीतिज्ञ से कैकेयी ने पाठ पढ़ा था—

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई (२।२६।६)

—मन्थरा कैकेयी की दासी होती हुई भी करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि थी। उसने कैकेयी को पाठ पढ़ाया कि यदि भरत को राज्य मिल गया, तो मात्र उतने से पूरा आनन्द कहाँ? पूरा आनन्द तो तब मिलेगा जब कौसल्या को कष्ट भी हो। इसलिए तुम तो दो वरदान माँगो—

सुतहि राजु रामहि बनबासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासू।। २।२१।६

—पुत्र को राज्य और राम को वनवास, जिससे सौत का सारा आनन्द नष्ट हो जाय। अब यदि मनुष्य के मन में लोभ की ऐसी वृत्ति आवे कि हमें लाभ हो, तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह व्यक्ति के स्वभाव में है कि वह जब कोई कार्य करता है, तो उसमें लाभ चाहता है—नौकरी में लाभ, व्यापार में लाभ। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि लाभ की वृत्ति समाज से पूरी तरह से मिट जाय या मिट जानी चाहिए। लोभ में यदि एक ही इच्छा आवे तब वह समाज के लिए घातक नहीं होता है, लेकिन जब लोभ की वृत्ति के रूप में मन्थरा जीवन में आती है तब वह ऐसी प्रेरणा करती है कि व्यक्ति कभी भी एक वरदान नहीं माँगता, वह हमेशा दो वरदान माँगता है, कहता है कि 'मुझे फायदा हो और बगलवाले को घाटा जरूर हो। ऐसे लोभी को अपने लाभ का पूरा आनन्द तब मिलता है, जब दूसरे की हानि होती है। जब लोभ में ऐसी प्रवृत्ति आती है तब

वह रामराज्य में बाधक बन जाता है। कैकेयी और प्रतापभानु दोनों के जीवन में ऐसा विकृत लोभ दिखाई पड़ता है, पर अन्त में जाकर कैकेयी का रोग साध्य हो गया, जबकि प्रतापभानु का असाध्य। इस अन्तर का कारण यह था कि कैकेयी को भरत के रूप में एक विलक्षण वैद्य मिले जबकि प्रतापभानु को कपटमुनि के रूप में ठग-वैद्य मिला। ऐसे ठग-वैद्य रोगी की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाते हैं, वे उसे स्वस्थ करने की चिन्ता नहीं करते, अपितु उसे अस्वस्थ बनाये रखकर उससे पैसा ऐंठने की तिकड़म करते रहते हैं। प्रतापभानु ने मानसिक लोभ से ग्रस्त ऐसे ही महालोभी और तिकड़मी कपटमुनि को वैद्य के रूप में चुना। कल वह प्रसंग आपके सामने था। गोस्वामीजी कहते हैं कि कपटमुनि था तो बड़ा चमत्कारी। प्रतापभानु रात्रि के समय जब उससे पूछता है कि मैं अपने घर कैसे पहुँचूँ, तो वह कहता है—

जोजन सत्तरि नगरु तुम्हारा (१।१५८।८)

—तुम्हारा घर यहाँ से सत्तर योजन दूर है, वन है, अँधेरा मार्ग है, कैसे पहुँच पाओगे ? सो जाओ। मैं तुम्हें सोते-सोते पहुँचा दूंगा। गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि ऐसे चमत्कारों से एकदम श्रद्धालु नहीं बन जाना चाहिए, सावधानी भी रखनी चाहिए। अभिप्राय यह कि अपने आप में चमत्कार महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि चमत्कार हमें पहुँचाता कहाँ है। कपटमुनि जो कहता है कि तुम आश्रम में सो जाओ, तुम्हारे सोते सोते हम तुम्हें पहुँचा देंगे, इसका अभिप्राय क्या ? यही कि हमें कुछ न करना पड़े और हमारे बिना कुछ किये हम जो चाहें पूरा हो जाय। बिना चले पहुँच जाने का यही

तो अर्थ हुआ ! लोभी की, कामी की और साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति की यही प्रवृत्ति होती है कि वह सफलता का छोटा मार्ग ढूँढ़ता है। और वह करते समय उसकी प्रवृत्ति यह रहती है कि उसे कुछ करना न पड़े। कपटमुनि ऐसा ही आश्वासन देता है कि तुम्हें कुछ नहीं करना है, हम तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देंगे। थका हुआ प्रतापभानु सो गया। तब कपटमुनि का मित्र कालकेतु राक्षस आता है। कपटमुनि ने उससे कहा—इसको सोते सोते ले जाकर उसके महल में पहुँचा दो। तब वह प्रतापभानु को ले जाता है, उसे उसकी रानी के पास पलंग पर सुला देता है और घोड़े को अच्छी तरह से घुड़साल में बाँध देता है—

नृपहि नारि पहिं सयन कराई ।
हय गृहँ बाँधेसि बाजि बनाई ।। १।१७०।८

—जब प्रातःकाल होने पर प्रतापभानु की नींद खुलती है और वह देखता है कि मैं तो अपने महल में अपनी रानी के पलंग पर सोया हुआ हूँ, तो वह यह सोच गद्गद हो जाता है कि मुझे इतने अच्छे गुरु मिले हैं कि अब मुझे कुछ चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। पर प्रतापभानु यह नहीं समझ पाता कि महत्त्व मात्र सोते सोते पहुँचा देने का नहीं है, बल्कि इसका है कि उसे पहुँचाया कहाँ गया है। ऐसे भी चमत्कार महापुरुषों के जीवन में, इतिहास और पुराणों में देखे जाते हैं, जहाँ शिष्य को, साधक को कुछ करना नहीं पड़ा और उसे ईश्वर की प्राप्ति हो गयी। इस तरह का एकाध दृष्टान्त 'रामचरित-मानस' में भी है। लंका में एक व्यक्ति था सुषेण वैद्य। उसको भी बिना कुछ किये हनुमान्‌जी की कृपा से

भगवान् की प्राप्ति होती है। हनुमान्जी जब उसके यहाँ गये तब वह गहरी नींद में सो रहा था। हनुमान्जी ने तुरन्त उसका घर ही उखाड़ लिया और घर सहित उसे भगवान् के पास ले आये—

आनेउ भवन समेत तुरंता (६।५४।८)

—हनुमान्जी ने उसे जगाया क्यों नहीं ? वे बड़े उदार सन्त हैं, उन्होंने सोचा कि अगर मैं जगाऊँगा तो यही कहूँगा कि चलो, भगवान् राम ने तुम्हें बुलाया है ? सन्त जीव को जगाते हैं और कहते हैं कि भइ, चलो भगवान् के पास। भगवान् को पाने की प्रेरणा के वश हो साधक घर-बार छोड़ देता है, अपनी सारी वस्तुएँ छोड़ देता है और उन्हें पाने के लिए दौड़ चलता है। तो, यहाँ पर हनुमान्जी ने सुषेण का घर क्यों नहीं छुड़ाया ? हनुमान्जी का तात्पर्य यह था कि भइ, अगर तुम्हारे मन में भगवान् को पाने की इच्छा हुई होती, तो मैं यही कहता कि घर छोड़कर चले चलो। पर जब भगवान् के ही मन में तुम्हें पाने की इच्छा हो गयी है तो तुम्हारे घर को भी हम लिये चलते हैं, घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं। इसीलिए हनुमान्जी उसे—

आनेउ भवन समेत तुरंता (६।५४।८)

—घर के साथ ला देते हैं। इस प्रकार सुषेण वैद्य सोते सोते लंका से भगवान् राम के चरणों में पहुँच गया। जब वह जागा तो अपने को भगवान् राम के चरणों के सामने पाया। उधर जब प्रतापभानु की आँखें खुलीं, तो उसने अपने को अपनी रानी के पलंग पर पड़ा पाया। इसका अर्थ यह कि हनुमान्जी ने तो राम के पास पहुँचाया और कालकेतु ने काम के पास। प्रतापभानु कपटमुनि

के इस चमत्कार से अत्यन्त प्रभावित हो गया और पूरी तरह से उस पर विश्वास कर बैठा। फलतः जैसा जैसा उसने कहा कि तुम ब्राह्मणों को निमंत्रित करना, मैं आकर भोजन बनाऊँगा, वह भोजन जो भी करेगा वही तुम्हारे वशीभूत हो जाएगा, प्रतापभानु वैसा ही करने लगता है।

प्रश्न उठता है कि प्रतापभानु ने आखिर दोष इतना क्या किया कि जिससे उसका अपराध इतना गुरुतर हो गया? इसका उत्तर यह है कि प्रतापभानु ने लोभ के वशीभूत हो अपने गुरु की उपेक्षा कर दी। मानस-रोगों के सन्दर्भ में यह बात कही गयी है कि जैसे वैद्य शरीर की चिकित्सा करता है, उसी प्रकार गुरु मन के रोगों की चिकित्सा करते हैं ——

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। ७।१२१।६

तो, वहाँ प्रतापभानु के भी गुरु थे। पर कपटमुनि ने कहा——मैं तुम्हारे गुरु का हरण कर लूँगा और उनका वेष बनाकर तुम्हारे कार्यों को सिद्ध करूँगा। अभिप्राय यह कि जिन गुरु के प्रति प्रतापभानु प्रारम्भ से ही समर्पित था, उनका वह परित्याग कर देता है और एक कपटी का वरण करता है। इसके पीछे उसकी यह प्रलोभन-वृत्ति कार्य कर रही है कि मेरे अन्तःकरण में जो स्वार्थमयी कामना है, उसकी पूर्ति में सम्भवतः हमारे गुरुदेव सक्षम नहीं है। कारण यह कि उन्होंने तो शरीर की नश्वरता का उपदेश दिया होगा, उसके अन्तःकरण में वैराग्य के संचार की चेष्टा की होगी, क्योंकि गुरु वह है जो ज्ञान और वैराग्य की प्रेरणा देते हैं ——'बिन गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु'

(७।८९ क)। पर प्रतापभानु को ये गुरु प्रिय नहीं हैं, वह तो ऐसे गुरु की खोज में है, जो उसकी कामनाओं की, उसके स्वार्थ की पूर्ति करे। इसके लिए अपने गुरु का अपहरण कराने में भी उसे रंचमात्र संकोच नहीं है। परिणाम वही होता है, जो ठग-वैद्य या ठग-डाक्टर के मिल जाने से होता है। ठग-वैद्य इधर तो व्यक्ति को आश्वासन देता रहता है कि हम तुमको अच्छा कर देंगे, घबराओ नहीं, पर उधर वह चेष्टा करता है जिससे वह जल्दी स्वस्थ न हो और उससे उसे निरन्तर लाभ होता रहे। कपटमुनि की चेष्टा तो और भी घातक थी, क्योंकि वह केवल लोभी ही नहीं था, क्रोधी भी था; उसके मन में प्रतापभानु को पूरी तरह से मिटा देने की इच्छा थी। अब यदि शत्रु ही वैद्य बनकर आ जावे और व्यक्ति शत्रु से ही अपने रोग की चिकित्सा करावे, तब तो उसकी मृत्यु अपरिहार्य है। प्रतापभानु के साथ ऐसा ही हुआ। उसकी यात्रा लोभ से प्रारम्भ हुई थी और काम में आकर समाप्त हुई। अपने को रानी के पलंग में पड़ा देख प्रतापभानु पूरी तरह कपटमुनि के चंगुल में फँस जाता है। कपटमुनि और कालकेतु राक्षस मिलकर ऐसा षड़यन्त्र रचते हैं कि अन्त में ब्राह्मण क्रुद्ध हो जाते हैं और प्रतापभानु को शाप दे देते हैं। तो, एक ओर यह प्रतापभानु है, जिसे कपटमुनि जैसा वैद्य प्राप्त होने के कारण उसका लोभ बढ़ता है, काम वृद्धिगत होता है और अन्ततोगत्वा उसका सर्वनाश साधित होता है। पर दूसरी ओर अयोध्या में कैकेयीजी हैं, जिन्हें भरतजी के रूप में एक ऐसा वैद्य प्राप्त हुआ जिसके अन्तःकरण में लोभ का कहीं लेश नहीं था। परिणाम यह होता है कि वे पूरी तरह स्वस्थ हो उठती

हैं। वैसे कैकेयीजी ने वैद्य को भी अस्वस्थ बनाने की चेष्टा की थी, क्योंकि अयोध्या का राज्य उन्होंने भरत के लिए ही माँगा था। यह तो वैसा ही था, जैसे कोई रोगी वैद्य को ही कुपथ्य दे रोगी बनाने की चेष्टा करे। पर सजग वैद्य रोगी के प्रलोभन में नहीं आता है, क्योंकि वह जानता है कि रोगी को मेरी बात माननी चाहिए, रोगी की बात मैं मानूँ यह ठीक नहीं है। परिणाम यह होता है कि कैकेयी अन्ततोगत्वा भरत के साथ चित्रकूट जाती हैं। उनके अन्तःकरण में बड़ी ग्लानि उत्पन्न होती है। उन्हें यह भान हो जाता है कि उनसे बहुत बड़ी भूल हो गयी, बहुत बड़ा अनर्थ हो गया। फिर श्री भरत के चरित्र के माध्यम से अपनी उस त्रुटि का परिमार्जन करके वे स्वस्थ हो जाती हैं—

भरत दरस मेटा भव रोगू। २।२१६।२

किन्तु प्रतापभानु अयोग्य वैद्य को पाकर अस्वस्थ हो जाता है। उसकी अस्वस्थता अगले जन्म में और बढ़ जाती है। जैसे प्रतापभानु के तो एक ही सिर था, पर रावण के रूप में उसके दस सिर हो गये! अब इसके कई तात्पर्य हैं। एक यह है कि प्रतापभानु की शत्रुता कालकेतु से थी, जिसके दस भाइयों को प्रतापभानु ने मार डाला था। गोस्वामीजी लिखते हैं—

तेहि के सत सुत अरु दस भाई।
खल अति अजय देव दुखदाई।। १।१६९।५

तो, जब प्रतापभानु मरने लगता है, उसके अन्तःकरण में कालकेतु का ही चिन्तन होता है, क्योंकि उसे पता चल गया था कि कालकेतु राक्षस ने उससे बदला लिया है। इसकी प्रतिक्रिया प्रतापभानु पर यह होती है कि वह उन

दस भाइयों का चिन्तन करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होकर अगले जन्म में दसमुख हो जाता है; क्योंकि अन्त समय में व्यक्ति जैसा चिन्तन करता हुआ मरता है, उसे वैसा ही अगला शरीर प्राप्त होता है। रावण के रूप में उसके और भी जो व्यवहार हैं, उन सबके भी मूल संस्कार आपको प्रतापभानु में मिलेंगे। जैसे कहा जाता है कि रावण ब्राह्मणों का अत्यन्त विरोधी था। तो इस विरोध का मूल संस्कार आपको उसके वर्तमान जन्म में नहीं मिलेगा। वह स्वयं तो विश्रवा मुनि का पुत्र था। तब विद्वेष का यह मूल संस्कार उसके भीतर कहाँ से पड़ गया? उत्तर है—प्रतापभानु के रूप में, क्योंकि ब्राह्मणों को उसने भोजन के लिए आमंत्रित किया था और उसे यह ज्ञात नहीं था कि भोजन में मांस मिला दिया गया है। वस्तुतः कालकेतु राक्षस ने उसमें ब्राह्मणों का मांस मिला दिया था, और जब यह मांस मिला हुआ भोजन परोसा गया, तब आकाशवाणी से ब्राह्मणों को भगवान् ने आदेश दिया—

बिप्रबृन्द उठि उठि गृह जाहू।
है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू॥
भयउ रसोईं भूसुर मासू।
सब द्विज उठे मानि बिस्वासू॥ १।१७२।६-७

—ब्राह्मणो, तुम लोग यह भोजन मत करो, इसके खाने में बड़ा दोष है। तुम लोग यह भोजन छोड़ अपने अपने घर चले जाओ। यदि ब्राह्मणों ने उस आकाशवाणी का अक्षरशः पालन किया होता, तो शायद समस्या इतनी उग्र न होती, जितनी कि उनके अविचार से हो गयी। आकाशवाणी ने तो यही आदेश दिया था कि भोजन छोड़कर अपने अपने घर चले जाओ। ब्राह्मण भोजन

छोड़कर उठ तो गये, पर अपने घर नहीं गये, बल्कि लिखा हुआ है कि वे वहीं पर खड़े हो गये और क्रोध में भरकर उन्होंने प्रतापभानु को फटकारते हुए कहा कि तुमने तो हमारा धर्म नष्ट करने की चेष्टा की, पर—

ईस्वर राखा धरम हमारा (१।१७३।२)

—वे तो भगवान् थे, जिन्होंने हमारे धर्म की रक्षा की। प्रतापभानु के मन में लोभ और काम का जन्म तो हो ही चुका था, अब विप्रों का क्रोध भी सम्मिलित हो गया। ब्राह्मणों ने क्रोध में आकर प्रतापभानु को श्राप दे दिया—

बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार ॥ १।१७३

—मूर्ख, तू जा, सारे परिवार के सहित निशाचर हो जा। अब यह जो उन्होंने शाप दिया यह उनकी कोई बुद्धिमत्ता नहीं थी। इसीलिए 'रामचरितमानस' में आता है कि जब ब्राह्मणों ने यह शाप दिया तो तुरत उसके बाद फिर से आकाशवाणी हुई, जिसमें कहा गया—

बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा (१।१७३।५)

—ब्राह्मणो, तुमने विचारकर श्राप नहीं दिया। तुम लोग राजा पर तो आरोप लगा रहे हो कि उसने विचारशून्य होकर काम किया, पर तुम लोगों ने भी भला कहाँ विचारयुक्त हो काम किया? उससे अगर नासमझी हुई तो तुम लोगों ने भी तो नासमझी की। उससे अगर अन्याय हुआ तो तुमसे भी तो अन्याय हुआ। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी से भूल हुई, यदि किसी में पाप है, तो उसे पापी बनाना चाहिए या भला?

कथा आती है कि कोई सन्त नौका में बैठकर जा

रहे थे। उस नौका में जितने यात्री थे सब बड़े दुष्ट थे। वे उन सन्त की खूब हँसी उड़ा रहे थे। हँसी हँसी में उनमें से एक ने कहा कि सन्त लोग तो बड़े समत्व में रहते हैं और ऐसा कह उनके सिर पर जूता रख दिया। सन्त ने तो बुरा नहीं माना, पर उनका यह अनादर भगवान् से सह्य नहीं हुआ और आकाशवाणी हुई—तुम कहो तो मैं इस नाव को उलट दूँ और सारे दुष्टों को डूबो दूँ! इस बात पर सन्त ने बहुत बढ़िया बात कही—"महाराज, जब आपके मन में उलटने की मौज आ गयी है तो मैं कैसे रोकूँ? उलट दीजिए। लेकिन उलटना ही है तो इन लोगों की बुद्धि उलट दीजिए जिससे इनकी ऐसी वृत्ति ही मिट जाए। नाव उलटना ठीक नहीं। इससे आपकी उलटने की इच्छा भी पूरी हो जाएगी और इनकी बुद्धि भी उलट जाएगी।" तो, प्रतापभानु के सन्दर्भ में यदि ब्राह्मणों ने कहा होता कि जा, तेरी वृत्ति शुद्ध हो जाए, तेरी बुद्धि से काम-लोभ नष्ट हो जाएँ, तब तो यह सार्थक बात होती। पर रुष्ट होकर यह कह देना कि जा, तू राक्षस हो जा, यह तो अविचार की पराकाष्ठा हो गयी। और जब शाप के फलस्वरूप प्रतापभानु राक्षस हो गया, तो उसके चित्त में जो द्वेष की वृत्ति थी, वही प्रतिक्रिया के रूप में ब्राह्मण-द्वेष में परिणत हो गयी। परिणामस्वरूप उसने निर्णय लिया कि पूर्वजन्म में मैंने इन लोगों को खिलाया और इन लोगों ने मुझे शाप दे दिया, अब इन लोगों को मैं खाऊंगा, उनको जो करना हो करें। अब ये लोग मेरा कुछ नहीं कर सकते। उस समय तो इन लोगों ने अपने शाप के बल पर मुझ पर सफलता प्राप्त कर ली थी, पर अब तो मैंने तपस्या करके अपने को इनसे भी ऊपर कर लिया है।

परिणाम यह हुआ कि प्रतापभानु के जीवन के कार्य संस्कार बनकर रावण के जीवन में प्रकट होते हैं। जैसा कि आपके सामने एक दिन कहा था, कालकेतु राक्षस ने प्रतापभानु को कपटमृग के रूप में ठगा था, तो प्रतापभानु भी रावण बनने पर मायामारीच को लेकर श्री राम को ठगने और सीताजी का हरण करने जाता है। इस प्रकार मनुष्य के मन में जो संस्कार दिखाई देते हैं, उनका मूल चित्त में है। यह चित्त पूर्व-पूर्व जन्मों के संस्कारों को संग्रहित किये रहता है। तब फिर चिकित्सा कैसे होगी? चिकित्सा का क्रम कैसे चलेगा? चित्त में संस्कार बनते हैं और चित्त के संस्कार मन पर दोष के रूप में उभरते हैं, और मन में जो दोष आते हैं, वे ही क्रिया में प्रकट होते हैं। तो, कल जो बात कही गयी थी कि यदि हम बुद्धि के द्वारा बुराई को बुराई समझ लें तथा अपने अन्तःकरण में अहंकार को न आने दें, तो बुराई की समस्या का समाधान हो सकता है। अतः यही ध्यान रखना होगा कि अहंकार और बुद्धि भी कहीं हमारे मन और चित्त के साथी न बन जाएँ। मन और चित्त में तो समस्याएँ भरी हुई हैं। चेष्टा यही करनी होगी कि बुद्धि और अहंकार सुरक्षित रहें। रावण का दुर्भाग्य यह है कि उसके चरित्र में बुद्धिजन्य दोष भी आ जाता है, वह जो भी समझता है, उल्टा समझता है, अपने दुर्गुणों को अहंकार की दृष्टि से देखता है और सोचता है कि मैं बिलकुल ठीक हूँ, मुझ जैसा पण्डित, मुझ जैसा महापुरुष संसार में कोई है ही नहीं। उसके चित्त और मन तो दोषयुक्त थे ही। ऐसे रोगी के पास हनुमान्‌जी पहुँच गये। पर वह तो असाध्य रोगी था, जिसका अन्तःकरण-चतुष्टय पूर्णतया रोगग्रस्त था। हनुमान्‌जी उसे

जो उपदेश देते हैं उसका तात्पर्य यह था कि रावण कम से कम बुद्धि से तो बात को समझ ले। हनुमान्जी ने उससे अहंकार छोड़ने के लिए कहा। इसका क्या अभिप्राय था? यही कि यदि बुद्धि सही सही बात समझ ले और अहंकार छोड़ दे, तो उसके मन और चित्त के दोषों को मिटाने का उपाय है। हनुमान्जी ने बाद में दवा भी बतायी। पर रावण उस दवा को स्वीकार नहीं करता।

सांकेतिक रूप से वर्णन आता है कि रावण को मारना बड़ा कठिन है। वह मूर्तिमान् मोह है और मोह ही समस्त रोगों के मूल में है। इसीलिए भगवान् श्री राम रावण पर जब प्रहार करते हैं, तो आप पढ़ते हैं कि उन्हें रावण के तीन केन्द्रों पर प्रहार करना पड़ा——रावण का सिर काट दिया गया, उसके हृदय पर प्रहार किया गया और उसकी नाभि पर बाण मारा गया। रावण की मृत्यु के ये तीन केन्द्र हैं। रावण के सिर और भुजाएँ तो कई बार भगवान् श्री राम द्वारा काट डाली गयी थीं, पर हर बार उसके नये सिर और नयी भुजाएँ निकल आती थीं। इन दो क्रियाओं के साथ बाद में और दो बातों का पता चला। एक ओर त्रिजटा ने कहा कि जब तक रावण के हृदय पर प्रहार नहीं होगा और वह सीताजी के ध्यान से विच्छिन्न न होगा, तब तक वह नहीं मरेगा, और उधर दूसरी ओर जब भगवान् राम ने विभीषण से पूछा कि रावण के तो नये-नये सिर और नयी-नयी भुजाएँ निकल आती हैं इसका क्या उपाय है, तो विभीषण ने कहा——प्रभु, इसकी भुजा पर भी प्रहार कीजिए और इसके सिर पर भी, पर नाथ-

साथ आप इन सबके मूलकेन्द्र मन और चित्त पर भी प्रहार कीजिए । हृदय पर प्रहार करना मानो मन पर प्रहार करने की चेष्टा थी । भुजा पर प्रहार करने का अभिप्राय यह है कि शरीर के द्वारा जो दुष्कर्म होता है उस पर प्रहार, सिर पर प्रहार करने का अर्थ होता है बुद्धि पर प्रहार । रावण को अपनी बुद्धिमत्ता का जो गर्व था और अपने विषय में जो यह विश्वास था कि मैं अमर हूँ, तो ऐसी बुद्धि और अहंकार को नष्ट करने के लिए उसका सिर काटना होगा । फिर उसके मन में परिवर्तन लाने के लिए उसके हृदय पर प्रहार करना होगा । पर इन तीनों के साथ-साथ जब तक इन सबके मूल में--चित्त में—जो संस्कार संग्रहित हैं, उन पर प्रहार नहीं होगा, जब तक चित्त के संस्कार नहीं सूखेंगे, तब तक काम नहीं बनेगा । व्यक्ति अगर एक बुराई से बच भी जाय तो चित्त के संस्कारों के कारण दूसरे जन्म में फिर दूसरी बुराई का जन्म हो जाता है । इसीलिए विभीषणजी भगवान् राम से कहते हैं—

नाभिकुंड पियूष बस याकें ।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें ।। ६।१०१।५

—हे नाथ, रावण के नाभिकुण्ड में अमृत का निवास है. रावण उसी के बल पर जीता है । तब भगवान् राम चारों स्थानों पर प्रहार करते हैं और इस प्रकार रावण की मृत्यु होती है ।

इससे विदित होता है कि मोह मनष्य के अन्त:करण में कितनी गहराई में भिदा होता है । मोह का जो मूल है, वह वस्तुत: चित्त में है । इसलिए केवल मन की चिकित्सा से ही व्यक्ति स्वस्थ नहीं होगा । जब तक चित्तस्थ मोह पर व्यक्ति विजय प्राप्त नहीं कर लेगा, तब तक न उसे

लंका पर विजय प्राप्त होगी, न रावण पर।

प्रारम्भ से आपके सामने आयुर्वेद की मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे व्यक्ति के शरीर में तीन दोष हैं--कफ, वात और पित्त, वैसे ही मन में भी काम, क्रोध और लोभ के त्रिदोष विद्यमान हैं और मोह इन सबके मूल में है। गोस्वामीजी कहते हैं कि काम ही वात है, क्रोध पित्त और लोभ कफ। जिस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सा में कफ, वात और पित्त को नियंत्रित करने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति को काम, क्रोध और लोभ को सन्तुलित करने की चेष्टा करनी चाहिए। पिछले समय यहाँ पर एक महीने का जो सत्र हुआ था, उसमें उसके एक पक्ष की ओर संकेत किया गया था। भगवान् श्री राम के अवतार का क्या प्रयोजन है? आप कह सकते हैं कि भगवान् श्री राम का उद्देश्य राक्षसों का वध करना है; तो यह भी एक उत्तर है। फिर यह भी कह सकते हैं कि समाज में जो अस्वस्थता आ गयी थी, उसे मिटाने के लिए भगवान् राम का अवतार हुआ था। ये दोनों उत्तर सही हैं, क्योंकि भगवान् राम के चरित्र के द्वारा ये दोनों ही कार्य पूरे हुए। भरत की मुख्य भूमिका तो मानस-रोगों को विनष्ट करने की है ही, पर भगवान् राम के चरित्र में भी आप यह पक्ष पाते हैं कि जो अस्वस्थ व्यक्ति हैं, मानसिक दृष्टि से रुग्ण हैं, भगवान् राम उनकी अपने चरित्र के द्वारा चिकित्सा करते हैं। हम जो रामायण पढ़ते हैं, सुनते हैं, भगवान् के चरित्र का पठन-पाठन करते हैं, इस सब का तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन में भी वैसी ही समग्रता आवे, जैसी भगवान् राम के जीवन में थी; हमारा अन्तःकरण भी उसी प्रकार का हो जावे जैसा भगवान्

श्री राम का था। हम देखते हैं कि उस समय के समाज में भी जो भले लोग थे, उनमें कुछ लोभ से ग्रस्त थे, कुछ काम से तो कुछ अहंकार से। जैसे संकेत से 'रामायण' में कहा गया है कि परशुराम एक अवतार थे और वे समाज की समस्याओं का समाधान देने के लिए आये थे। प्रश्न होता है कि वे किस समस्या का समाधान देने के लिए आये थे? मानस-रोगों के सन्दर्भ में एक और बड़े महत्त्व की बात बतायी गयी है कि रोग की चिकित्सा ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे एक रोग तो घटे पर दूसरा बढ़ जावे। कभी-कभी ऐसा भी होता है। जैसे मलेरिया का ज्वर हुआ। उसे दूर करने के लिए कुनैन खाया गया, पर कुनैन की उष्णता से व्यक्ति को कम सुनाई देने लगा या उससे व्यक्ति के मस्तिष्क में कुछ विभ्रम-सा हो गया। ऐसी हजारों औषधियाँ हैं, जिनके द्वारा रोग तो दब जाता है, पर किसी नये रोग की सृष्टि हो जाती है। इसलिए दवा के साथ-साथ अनुपान देते हैं। मान लीजिए कि मनुष्य में कफ प्रबल हो गया और कफ के निवारण के लिए वैद्य ने गरम दवा दी, क्योंकि कफ का सम्बन्ध शीत से है। अब उस शीत का निवारण करने के लिए उष्ण औषधि देते समय वैद्य को यह ध्यान बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी दवा से इसका कफ तो दब जाय पर पित्त प्रबल हो जाय। अतः यह सावधानी बरतने के लिए उसमें ऐसी दवा मिला दी जाती है, जिससे कफ के साथ-साथ पित्त भी शान्त रहे। एक ओर उष्णता की भी चिकित्सा हो और दूसरी ओर शीत की भी। इसे अनुपान कहते हैं। ऐसा वैद्य सफल वैद्य माना जाता है। यदि कोई वैद्य या डाक्टर ऐसी दवा दे दे, जो एक रोग को तो घटावे पर दूसरे को बढ़ा दे, तो ऐसी

स्थिति में रोगी ज्यों का त्यों अस्वस्थ बना रहता है।

तो, परशुरामजी समाज की अस्वस्थता की चिकित्सा करने के लिए आये थे। उस समय जितने भी महापुरुष थे, वे सभी समाज को स्वस्थ करने की चेष्टा कर रहे थे। विश्वामित्र भी एक महापुरुष के रूप में समाज को स्वस्थ करना चाहते थे और परशुराम भी, फिर महाराज श्री जनक भी। दूसरी ओर रावण जैसे लोग थे, जो समाज में अस्वस्थता का, दोषों का, दुर्गुणों का संचार कर रहे थे। तो, प्रश्न यह आता है कि विश्वामित्र, परशुराम और जनक जैसे लोगों के होते हुए भी भगवान् राम को क्यों आना पड़ा? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि रोग और राक्षस इतने बढ़े हुए थे कि उनकी कोई सीमा नहीं रह गयी थी; या फिर यह कह सकते हैं कि जो चिकित्सक थे, उनमें कुछ न कुछ अपूर्णता विद्यमान थी, जिसका परिणाम यह होता था कि एक ओर तो व्यक्ति और समाज का रोग दूर होता था, पर दूसरी ओर समाज में एक नया असन्तुलन उत्पन्न हो जाता था। परशुरामजी का चरित्र इसका प्रमाण है। वे लोभ के सबसे बड़े चिकित्सक थे। आप देखेंगे कि उनके चरित्र में ये दो महान् गुण थे—एक तो उन्होंने जीवन में कभी राज्यसत्ता का लोभ नहीं किया और दूसरे, वे जीवन भर बाल-ब्रह्मचारी रहे। इसका अभिप्राय यह कि वे काम के भी विजेता थे और लोभ के भी। और उन्होंने चिकित्सा भी ठीक उसी प्रकार से की। उन्होंने सहस्रार्जुन पर प्रहार किया। जैसे रावण मोह का प्रतीक है, वैसे हजार भुजावाला सहस्रार्जुन लोभ का। सहस्रार्जुन संसार पर शासन करता है। फिर यह भी वर्णन आता है कि सहस्रार्जुन ने रावण को भी हरा दिया।

इसका अर्थ क्या हुआ? यही कि ये दुर्गुण और सद्गुण आपस में एक दूसरे से भी लड़ते रहते हैं। कभी उनमें टकराहट होती है तो कभी मित्रता। रावण सहस्त्रार्जुन को नहीं जीत पाया। इसका अर्थ क्या? यही कि लोभी लोभ को कैसे जीतेगा? वह तो बीस ही भुजावाला था, जबकि सहस्त्रार्जुन के हजार भुजाएँ थीं। पर रावण को हरानेवाले ऐसे सहस्त्रार्जुन के लोभ की पराकाष्ठा तब हो गयी, जब उसे अपने राज्य और सम्पत्ति से सन्तोष नहीं हुआ। वह जमदग्नि के आश्रम में कामधेनु गाय को देखता है और जब उसे पता चलता है कि मुनि ने कामधेनु के सहारे उसकी इतनी बड़ी सेना का स्वागत किया है, तो उसका लोभ बढ़ जाता है और कामधेनु को अपने लिए माँगता है; कहता है—आपको जब कुटिया में, वन में लँगोटी लगाकर रहना है, तो फिर कामधेनु का आपके लिए क्या उपयोग? इस गाय के बदले हम एक हजार गायें आपके आश्रम में भेज देते हैं। आपको दूध-घी ही तो चाहिए. वह आपको अन्य गायों के द्वारा मिल जाएगा। कामधेनु का सही उपयोग हम कर सकेंगे। पर जमदग्नि ने कहा—नहीं, कामधेनु तुम्हें नहीं मिलेगी। तब उसने बलपूर्वक छीनने की चेष्टा की। यही लोभ का स्वभाव है। लोभ के आने पर व्यक्ति चाहता है कि हमें व्यापार से लाभ हो जिससे हमारी इच्छा पूरी हो जाय। कोई व्यक्ति लोभ में जब उससे भी आगे बढ़ता है, तो सोचता है कि चोरी से हम अपने लोभ की पूर्ति करें। लोभ में उससे भी आगे बढ़ने पर व्यक्ति सोचता है कि डाका डालकर भी हम आकांक्षा की पूर्ति करें। सहस्त्रार्जुन में लोभ का अतिरेक हो गया, वह उस सीमा तक पहुँच गया कि उसे एक महात्मा की

हत्या करके, डाका डालकर कामधेनु छीनने में संकोच नहीं हुआ। जब परशुराम आये और उन्हें अपने पिताजी के वध का समाचार मिला, तो वे दण्ड देने के लिए प्रस्तुत होतेहैं और अपना सुप्रसिद्ध शस्त्र 'परशु' हाथ में लेते हैं। वे फरसे के द्वारा सहस्रबाहु की हजार भुजाएँ काट डालते हैं और उसका पूरा विनाश कर देते हैं,राजाओं को समाप्त कर देते हैं, उनसे राज्यसत्ता छीन लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने समाज में व्याप्त लोभ पर, अन्याय और अनाचार पर प्रहार किया और एक समस्या का समाधान किया। लेकिन वे सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाये। क्यों? इसलिए कि परशुराम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहीं पर दुर्बल पड़ गये थे। उन्होंने सहस्रार्जुन को तो मारा, पर रावण को नहीं। हजार भुजावाले का तो वध किया, पर बीस भुजावाले को छोड़ दिया। इसका तात्पर्य यह है कि वे लोभ के विजेता तो बने, पर मोह को नहीं जीत पाये। कारण यह था कि उन्होंने अन्याय मिटाते समय भी अपने अन्तःकरण की मोहासक्ति को वर्गविशेष से जोड़ लिया था। वे घोषणा करते हुए कहते हैं कि क्षत्रिय बड़े अन्यायी हैं, क्षत्रियों को दण्ड मिलना चाहिए। तो क्या ब्राह्मण यदि अन्यायी हो, वह अनर्थ करे, तो उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिए? उनके अन्तःकरण में कहीं न कहीं यह संस्कार जुड़ा हुआ है कि रावण विश्रवा मुनि का बेटा है, हमारी ही जाति का एक व्यक्ति है। अपने अन्तःकरण की इस मोहासक्ति के कारण वे क्षत्रिय सहस्रार्जुन को तो दण्ड देते हैं, पर ब्राह्मण रावण को दण्ड देने की बात उनके मन में नहीं आती। इस प्रकार अपने क्रोध के द्वारा वे समाज में एक दूसरा असन्तुलन उत्पन्न कर देते हैं। इसका अभिप्राय

यह हुआ कि समाज में वात और कफ—काम और लोभ तो दबा, लेकिन पित्तरूप क्रोध उग्र हो गया। परशुरामजी अपना परिचय देते हुए कहते हैं—

बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्व बिदित छत्रिय कुलद्रोही ।। १।२७१।६

—'मैं बालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ, क्षत्रियकुल का शत्रु तो विश्वभर में विख्यात हूँ।' लक्ष्मणजी को यह सुनकर हँसी आ जाती है। वे कह उठते हैं—महाराज, यह स्वस्थता का लक्षण है अथवा अस्वस्थता का? उनका तात्पर्य यह है कि जब परशुराम अपना परिचय यह कहकर देते हैं कि मैं बालब्रह्मचारी हूँ, तब तो स्वस्थता का लक्षण है, पर जब उसके साथ यह जोड़ देते हैं कि मैं बहुत क्रोधी हूँ, तब मानो अस्वस्थता की सूचना देते हैं। लक्ष्मणजी का संकेत यह है कि आपने कुछ समस्याओं का समाधान तो किया, पर कुछ समस्याएं ऐसी हैं, जिनकी सृष्टि आपने कर दी है, और उन्हीं का समाधान देने के लिए यह नया अवतार हुआ है। उनका संकेत भगवान् राम की ओर है। परशुराम यह सोचते हैं कि यह नया राम कहाँ से आ गया? उनको लगता है कि कहाँ यह राम और कहाँ मैं राम? और आगे चलकर उनकी दुर्बलता प्रकट भी हो जाती है। उनको लगता है कि जब लोग दोनों रामों का परिचय देंगे, तो मेरे परिचय में कहेंगे कि वह जो शंकर का शिष्य है, और जब इस राम का परिचय देंगे तब कहेंगे कि वह, जो शंकर के धनुष का तोड़नेवाला है। इससे इसका परिचय तो मुझसे ऊँचा ही मालूम पड़ेगा। मैं शंकर का चेला और यह शंकर के धनुष का तोड़नेवाला! यह सोच परशुराम ने भगवान् राम से प्रस्ताव किया—"तुम शस्त्र लो और

मुझसे लड़ो।" भगवान् राम ने कहा, "महाराज, यदि मैं लड़ना न चाहूँ तो?" "तो फिर एक काम करो", परशुराम जी बोले—

करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहि त छाड़ कहाउब रामा ॥१/२८०/२

—यह तुमने जो अपना 'राम' नाम रखा है इसे छोड़ दो। राम एक ही रहेगा, दो राम नहीं रहेंगे। या मैं राम रहूँगा या तुम राम रहोगे।

कभी-कभी भले-भले लोगों में भी ईर्षाजन्य टकराहट देखी जाती है। वहाँ पर भी यह वृत्ति आ जाती है कि यदि किसी को भला माना जाना है, श्रेष्ठ माना जाना है, महापुरुष माना जाना है, तो मुझे ही माना जाय, मेरा प्रतिद्वन्द्वी न माना जाय! इसका अर्थ यह है कि अन्तःकरण की कुछ दुर्बलताएँ ऐसी हैं, जिन पर परशुरामजी विजय नहीं पा सके थे। ये उनकी मात्सर्य और ईर्षा की परिचायक वृत्तियाँ हैं। रावण को न मार पाना उनकी मोहवृत्ति का परिचायक है। इतना अधिक आवेश में आ जाना उनकी क्रोधवृत्ति को सूचित करता है। साधारण दृष्टि से परशुराम को लगता है कि मेरे साथ इस राम की कोई तुलना ही नहीं हो सकती। मैं कहाँ ब्रह्मचारी और यह कहाँ विवाहित; मैं कहाँ त्यागी-तपस्वी और यह कहाँ राजा का लड़का! उनको लगता है कि इस राम में तो सारी दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। जब विवाह करने के लिए धनुष तोड़ा है, तब काम तो उसमें है ही। राजा का पुत्र होने से उत्तराधिकारी के रूप में जब सिंहासन पर बैठेगा ही, तब लोभ भी है ही। परशुरामजी को लगता है कि हाँ, इसमें क्रोध ही कम दिखाई दे रहा है, पर इस कमी की पूर्ति उसके छोटे भाई ने कर दी

है। इस प्रकार से विवेचन करने से परशुरामजी को लगता है कि मैं एक महान् व्यक्ति हूँ और ये दोनों भाई मेरे सामने नगण्य हैं। तब भगवान् राम परशुरामजी को उनकी भूल दिखला देते हैं।

यह सही है कि भगवान् राम के चरित्र में विवाह की स्वीकृति है और उनके सिंहासन पर बैठने का भी वर्णन है। और जब विवाह है तो काम से सम्बन्ध जुड़ ही गया; सिंहासन की स्वीकृति है तो लोभ से भी सम्बन्ध जुड़ गया। और भले ही भगवान् राम परशुराम के प्रसंग में क्रोध नहीं करते हैं, पर एक मीठा विनोद करते हैं कि उन्होंने लक्ष्मणजी पर एक बार थोड़ा-सा क्रोध अवश्य प्रदर्शित किया। आप जानते हैं कि लक्ष्मणजी जब परशुराम की आलोचना करते हैं, तब सब लोग डरने लगते हैं; क्योंकि जैसे उनके विषय में यह बड़ा प्रसिद्ध था कि वे बड़े तेज स्वभाव के हैं, वैसे ही परशुराम के सम्बन्ध में भी ख्याति थी। और लोग यह समझते थे कि विजयी होंगे तो परशुराम ही। इसलिए वे चाहते थे कि यह लड़का यदि बोलना बन्द कर दे, तो कम से कम इनका क्रोध तो शान्त हो जाना। गोस्वामीजी लिखते हैं—

थर थर काँपहि पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी॥ १/२७७/५

—जनकपुर के नर-नारी थर-थर काँप रहे हैं; और मन ही मन कह रहे हैं कि बड़ा भाई तो बड़ा सज्जन है, पर छोटा भाई बड़ा खोटा है। जनक से भी नहीं रहा गया। वे सीधे लक्ष्मणजी से बोलने में घबराते हैं, क्योंकि एक बार लक्ष्मणजी उनको फटकार चुके हैं। इसलिए वे भगवान् राम की ओर देखकर कहते हैं—

मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं (१/२७७/४)
—बस कीजिए, यह अनुचित हो रहा है। भगवान् राम जब देखते हैं कि जनकजी भी इस समय जरा असहिष्णु हो रहे हैं और घबराये हुए हैं, तब—

नयन तरेरे राम (१/२७८)

—वे नेत्र तरेरकर लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं। इससे लक्ष्मणजी बड़े प्रसन्न हुए। परशुरामजी को तो लगा कि भरी सभा में राम ने लक्ष्मण को आँखें दिखायीं, पर लक्ष्मणजी यह सोचकर प्रसन्न होते हैं कि महाराज, अब परशुरामजी को यह तो पता चल गया कि आपको भौंहें टेढ़ी करना आता है, नहीं तो शायद उन्हें यही भ्रम हो जाता कि आपमें क्रोध है ही नहीं और यह कि आप किसी बात पर भौंहें टेढ़ी करते नहीं। इससे मुझे यह भी विश्वास हुआ कि समाज में यदि और भी कोई व्यक्ति अनुचित कार्य करेगा, तो आपकी भौंहें टेढ़ी होंगी। तो, संकेत यह है कि भगवान् राम ने काम, क्रोध और लोभ के सन्तुलन की एक प्रक्रिया अपने जीवन में प्रकट की। उनमें काम है, पर रोग के रूप में नहीं; क्रोध है, पर रोग के रूप में नहीं; इसी प्रकार लोभ की भी स्वीकृति है, पर रोग के रूप में नहीं।

यह कहा जा चुका है कि गोस्वामीजी ने मन के काम की तुलना शरीर के वात से की है। जब वात शरीर में सीमित रूप में रहता है, तो उसके द्वारा व्यक्ति के शरीर को गति प्राप्त होती है, क्योंकि यह शरीर वात के द्वारा ही चलता है। लेकिन यदि उसका अतिरेक हो जाय तो अनर्थ हो जाता है, व्यक्ति का शरीर पंगु हो जाता है, उसके मस्तिष्क में भी विभ्रम हो जाता है। भगवान् राम के चरित्र में पुष्प-वाटिका के प्रसंग में काम की स्वीकृति होते हुए भी

काम की प्रकृति में मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। भगवान् राम कितने सजग लगते हैं। श्री सीताजी के सौन्दर्य को देख वे आकर्षण का जो अनुभव करते हैं या उनके नूपुर की ध्वनि सुन उनमें राग का जो अनुभव होता है, उससे ऐसा लगता है कि उनके जीवन में काम की स्वीकृति है। पर उनकी सजगता कहाँ पर है? काम पर नियंत्रण कहाँ पर है? वे तुरत अपने अन्तर्मन की दशा का वर्णन लक्ष्मण से करते हुए कहते हैं—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहि पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।
ते नरवर थोरे जग माहीं॥१/२३०/६-८

—'मुझे तो अपने मन का अत्यन्त ही विश्वास है कि उसने स्वप्न में भी परायी नारी पर दृष्टि नहीं डाली है। रण में शत्रु जिनकी पीठ नहीं देख पाते, परायी स्त्रियाँ जिनके मन और दृष्टि को नहीं खींच पातीं और भिखारी जिनके यहाँ से 'नाहीं' नहीं पाते, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में थोड़े हैं।' यह कहकर प्रभु ने यहाँ पर संकेत से मानो तीनों विकारों पर विजय सूचित की। उनका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण, यदि मेरे मन में राग का, श्रृंगार का उदय हुआ है, तो मैं अपने को निर्णायक नहीं बना सकता। तुम्हारा चित्त शुद्ध है इसलिए तुम निर्णय करके बताओ कि मेरे मन में इस प्रकार की बात का आना उचित है या अनुचित? प्रभु कहते हैं कि आज तक मेरे मन में ये तीन बातें कभी नहीं आयीं—मैंने माँगनेवाले को कभी 'नाहीं' नहीं की, शत्रु

को कभी पीठ नहीं दिखायी और परस्त्री की ओर दृष्टिपात नहीं किया। यदि आप ध्यान से देखें तो इसमें काम, क्रोध और लोभ तीनों बातों की स्वीकृति पाएँगे। मनुष्य दान तभी देता है जब वह समृद्ध हो। भगवान् राम कहते हैं कि माँगनेवाले को मैंने कभी नाहीं नहीं की। इसका अभिप्राय क्या? यही कि भगवान् राघवेन्द्र के पास जो कुछ है, वह देने के लिए है। वे कहते हैं कि मैंने शत्रु को पीठ नहीं दिखायी। शत्रु से तो क्रोधपूर्वक ही लड़ना होगा। भगवान् राम का अभिप्राय यह है कि जब हम बुराई पर आक्रमण करते हैं, तब खुलकर सामने आक्रमण करते हैं, उसे क्षमा नहीं करते। बुराई को पीठ दिखाकर नहीं भागते। वे कहते हैं कि मैंने कभी परस्त्री की ओर दृष्टि नहीं डाली, परन्तु आज यदि मेरे मन में सौन्दर्य का आकर्षण आ गया है तो तुम्हारा मन इस स्थिति में है कि तुम यह बता सको कि यह उचित है अथवा नहीं, क्योंकि तुम्हारा मन शुद्ध है—

बोले सुचि मन अनुज सन (१/२३०)।

लक्ष्मणजी उस समय तो नहीं बोले, पर उन्होंने निर्णय दे दिया कि नहीं, आपके हृदय में राग का यह जो संचार हुआ है, वह किसी वासना या उच्छृंखलता की प्रेरणा से नहीं है। यही नहीं, बल्कि दूसरे दिन सुबह जब भगवान् श्री राघवेन्द्र ने लक्ष्मणजी से पूछा कि सूर्य निकल आया क्या, तो लक्ष्मणजी ने कहा—महाराज, एक सूर्य तो निकल आया है, पर यह सूर्य मुझे बता रहा है कि एक दूसरा सूर्य कुछ घण्टे बाद निकलेगा। उनका तात्पर्य यह था कि महाराज, जब आपकी भुजा का सूर्य उदित होगा, तभी धनुष का यह अन्धकार टूटेगा और सीताजी से आपका परिणय होगा। प्रभु, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो धर्म के पीछे

चलते हैं और कुछ लोगों का मन इतना पवित्र होता है कि धर्म उनके पीछे चलता है। आपके मन में सीता के लिए आकर्षण इसलिए उत्पन्न हुआ कि वे आपकी ही शक्ति हैं। अतः लोक-कल्याण के लिए यह परम आवश्यक है कि शक्ति और शक्तिमान् का मिलन हो। सीताजी के प्रति यदि आपके मन में राग का उदय न हो तो मिलन कैसे सम्भव होगा? ऐसी स्थिति में आपका राग कल्याणकारी है। अभिप्राय यह है कि भगवान् श्री राम का राग नियंत्रित है, उसमें मर्यादा के लंघन की कोई भावना नहीं है। इसी प्रकार भगवान् राघवेन्द्र यहाँ पर प्रतिगृहीता हैं। प्रतिगृहीता का अर्थ है ग्रहण करनेवाला। भगवान् श्री राघवेन्द्र सीताजी का ग्रहण कर रहे हैं, जो दान-दहेज दिया जा रहा है उसे स्वीकार कर रहे हैं। गोस्वामीजी ने दहेज का जो वर्णन किया है, उसे पढ़कर दहेज-प्रेमियों के मुँह में पानी भर आएगा—

> कंबल बसन बिचित्र पटोरे।
> भाँति भाँति बहुमोल न थोरे॥
> गज रथ तुरग दास अरु दासी।
> धेनु अलंकृत कामदुहा सी॥
> बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा।
> कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥
> लोकपाल अवलोकि सिहाने॥१/३२५/३-६

वह सब देखकर लोकपालों तक को ऐसा लगा कि इतना देने की सामर्थ्य तो हममें भी नहीं है। जब भगवान् राघवेन्द्र विवाह में इतना दहेज लेकर लौटते हैं, तो उनमें लोभ की स्वीकृति है या नहीं? पर गोस्वामीजी अगले वाक्य के द्वारा लोभ के नियंत्रण की बात बतला देते हैं। वे लिखते

हैं कि दहेज मिलते ही भगवान् राम द्वारा पहला काम यह किया गया—

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा (१/३२५/७)

—याचकों को खुली छूट दे दी गयी कि जिसे जो ले जाना हो ले जाओ। अब अगर कोई ऐसा बढ़िया लोभी हो जो सब कुछ पाने के बाद कह दे कि जिसको जो ले जाना हो ले जाओ, तो ऐसे लोभ की क्या निन्दा की जाएगी? ऐसे ग्रहण की निन्दा भला कैसे की जाएगी, जहाँ पर उसके साथ ऐसी त्याग की वृत्ति जुड़ी हुई हो? जहाँ लोभ में केवल संग्रह की वृत्ति है, वहाँ लोभ घातक है। पर जहाँ लोभ में दान और वितरण की प्रक्रिया जुड़ गयी, वहाँ लोभ नियंत्रित हो गया। जहाँ पर काम में मर्यादा जुड़ गयी, वहाँ पर वह नियंत्रित हो समाज का संरक्षण करनेवाला बन गया। यही सत्य क्रोध की वृत्ति पर भी लागू होता है। क्रोध के दो प्रतीक हैं—परशुराम और लक्ष्मण। परशुराम को अपने क्रोध पर रंचमात्र भी नियंत्रण नहीं है। वह अनियंत्रित क्रोध है। पर दूसरी ओर?—'नयन तरेरे राम' में भगवान् राम का तात्पर्य क्या था? भले ही जनकजी प्रसन्न हो गये हों कि राम ने जरा भौंहें टेढ़ी करके लक्ष्मण को देखा तथा भले ही जनकपुरवासियों को प्रसन्नता हुई हो कि चलो, अब लक्ष्मण पर थोड़ा नियंत्रण लगा, परन्तु भगवान् राम वस्तुतः इसके द्वारा परशुरामजी को उत्तर देना चाहते थे। परशराम ने भगवान् राम से कहा कि तुममें गुण तो बहुत से हैं, पर तुममें एक बहुत बडी कमी है। बड़े भाई के नाते तुम्हें चाहिए था कि अपने छोटे भाई को अपने पीछे चलाते। लेकिन—

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही (१/२७६/८)

——वह स्वभाव से ही टेढ़ा है और तुम्हारा अनुसरण नहीं करता। गोस्वामीजी यहाँ पर एक व्यंग्य करते हैं। परशुरामजी की बात सुनकर तुरत लक्ष्मणजी व्यंग्यात्मक भाषा में कहते हैं——

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया (१/२७७/१)

——महाराज, मैं तो आपका अनुयायी हूँ! और इसका अर्थ यह है कि अगर क्रोध बुरा है, तो वह केवल मेरे लिए ही बुरा नहीं है अपितु आपके लिए भी बुरा है। आप जैसा बड़ा व्यक्ति यदि क्रोध करेगा, तो उससे छोटे के मन में क्या प्रेरणा नहीं मिलेगी? आप अपने क्रोध के समर्थक हैं और मेरे क्रोध के विरोधी! लक्ष्मणजी ने मानो धीरे से दर्पण सामने रख दिया, कहा——यह मेरी आकृति नहीं है जिसे आप देख रहे हैं; यदि आप अपनी आकृति देखें तो आपको यही दिखाई देगी। फिर भगवान् राम लक्ष्मणजी की ओर आँखें तरेरकर एक मीठा संकेत देते हैं। वह संकेत देखने में तो बड़ा मृदु है, पर है बडा गूढ़। 'नयन तरेरे राम' का अभिप्राय क्या? भगवान् राम चाहते तो लक्ष्मण को वाणी से भी रोक सकते थे, कह सकते थे कि चुप रहो। पर भगवान् राम ने वाणी से नहीं रोका, केवल जरा-सी भौंहें टेढ़ी कीं। और फल क्या होता है——

गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम (१/२७८)

——लक्ष्मणजी बिल्कुल चुप हो जाते हैं और विश्वामित्र के पास जाकर खड़े हो जाते हैं। इसके द्वारा भगवान् राम ने परशुरामजी को उत्तर भी दे दिया——महाराज, आप कहते हैं कि यह लड़का उच्छृंखल है, अनियंत्रित है, पर आपने देख लिया वह तो भौंह के संकेत से भी चुप हो जाता है। यदि आप फरसे से भी उसे चुप नहीं करा पा रहे हैं, तो कोई कमी

आपमें ही हुई है! आप शस्त्र का चुनाव ठीक नहीं करते हैं। हर जगह आप फरसा चलाना ही जानते हैं। सहस्रार्जुन के लिए भी फरसा और यहाँ भी फरसा! इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर दुर्गुण दुर्गुण के रूप में है, वहाँ पर शस्त्र से प्रहार कीजिए; पर जहाँ पर कोई रोग अनियंत्रित-सा दिखाई दे, वहाँ पर तो केवल नियंत्रण की अपेक्षा है। और आपने देख लिया कि लक्ष्मण मेरे द्वारा कितना नियंत्रित है। तो, लक्ष्मणजी भले ही परम क्रोध में दिखाई देते हैं, पर उनका क्रोध नियंत्रित है।

प्रश्न यह है कि क्रोध की आवश्यकता है या नहीं? इसका उत्तर एक प्रतिप्रश्न करके दिया जा सकता है कि घर में अग्नि की आवश्यकता है या नहीं? व्यक्ति जरा सा भी असावधान हो जाय, तो घर जल जाय, वह स्वयं जलकर मर जाय, पर अग्नि यदि नियंत्रित हो, तो भोजन पकाया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अग्नि की आवश्यकता तो है, पर उसे नियंत्रित होना चाहिए। विवाह के प्रसंग में हम भगवान् राम के जीवन में क्रोध का यही नियंत्रित स्वरूप देखते हैं। उन्होंने परशुराम से धीरे से एक वाक्य कह दिया—महर्षि, आपने बहुत दिन तक क्रोध किया, आप ब्राह्मण हैं, आपको क्रोध शोभा नहीं देता—

चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी (१/२८१/४)

—ब्राह्मण के हृदय में तो बहुत अधिक दया होनी चाहिए। आपने कृपावाले पक्ष को, क्षमावाले पक्ष को छोड़ दिया है। भगवान् राम की भाषा बड़ी सन्तुलित है, वे आगे कहते हैं—

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥ १/२८१/५

—हमारी और आपकी बराबरी कैसी? कहिए न, कहाँ

चरण और कहाँ मस्तक !

तो, भगवान् राम का तात्पर्य यह है कि जहाँ क्रोध के साथ क्षमाशीलता का नियंत्रण है, ऐसा क्रोध ही रोग दूर करने में समर्थ होता है । शीलवान् का क्रोध अन्याय के, दुर्गुण के विरुद्ध होगा और सृष्टि के सृजन में उसका उपयोग होगा । उसका लोभ वितरण और दान के लिए होगा । इसका अभिप्राय यह है कि यदि हमारे जीवन में काम, क्रोध और लोभ के ये तीनों विकार सन्तुलित हैं, जैसा कि भगवान् राम ने जनकपुर में प्रदर्शित किया, तो उससे मानस-रोग दूर होते हैं । अतः हम इन तीनों को नियमित और सन्तुलित करने की चेष्टा करें, उन्हें ऐसी दिशा में मोड़ दें जिससे वे हमारे तथा समाज के लिए कल्याणकारी हो सकें । जो शरीर का रोगी है, वह अकेले ही उस रोग के फल का भोग करता है, पर मन का रोगी दूसरे व्यक्ति को भी रोगी बना देता है । एक व्यक्ति का काम दूसरे में क्रोध की उत्पत्ति करता है । यदि एक व्यक्ति कामी बनेगा तो उसकी प्रतिक्रिया में दूसरा व्यक्ति, जिसे हानि होगी, क्रोधी बनेगा । एक लोभी समाज को दरिद्र बना देता है । एक क्रोधी समाज में भय की सृष्टि कर देता है । इस प्रकार एक अस्वस्थ व्यक्ति समाज को भी अस्वस्थ बना देता है । यही मानस-रोगों की समस्या है और ये मानस-रोग प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान हैं—कुछ लोगों में ये छिपे हुए रहते हैं और कुछ लोगों में प्रकट; कुछ लोगों में नियंत्रित रहते हैं और कुछ लोगों में अनियंत्रित । इन्हें नियंत्रित कैसे किया जाय यह बतलाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि दवाएँ तो बहुतसी हैं—

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान (७/१२१/ख)

—इन दवाइयों के द्वारा भी रोग दबता है, पर अन्तिम दवा यह है—

सदगुर बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न विषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी।। ७/१२१/६-७

—सद्गुरु वैद्य हो, उसके वचनों पर विश्वास हो, कुपथ्य के प्रति प्रेम न हो और सद्गुरु से भगवान् की भक्ति की जड़ी लेकर श्रद्धा के अनुपान में मिलाकर उसका सेवन किया जाय। श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से जब व्यक्ति सद्गुरु से भक्ति की दवा ग्रहण करता है, तो मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के रोग दूर हो जाते हैं और व्यक्ति स्वस्थ हो उठता है। अभी तो हम लोग मानस-रोगों की केवल भूमिका में चल रहे हैं। अगले वर्ष के लिए भी आदरणीय स्वामीजी ने निमंत्रण दे दिया है, उसे स्वीकार कर लेता हूँ, क्योंकि यहाँ आकर मुझे स्वयं विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। तो हम लोग फिर मिलेंगे और मानस-रोग, उसका निदान तथा चिकित्सा पर चर्चा करेंगे।

बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय!

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) तप तें अगम न कछु संसारा

महात्मा बुद्ध का सौतेला भाई राजा नन्द हमेशा राजसी सुख में मग्न रहता। प्रजा की भलाई के लिए उसने कोई काम नहीं किया। इससे प्रजा की हालत दिनों-दिन खराब होती गयी। मंत्रीगण भी प्रजा को तंग करते और लूटते-खसोटते।

एक बार जब बुद्धदेव का कपिलवस्तु में आगमन हुआ, तो लोग उनके पास पहुँचे और उन्होंने अपने कष्टों का हाल कह सुनाया। बुद्ध उसी समय नन्द से मिलने गये। नन्द उस समय महल में नृत्य-संगीत का आनन्द ले रहा था। बुद्धदेव राजदरबार में बहुत देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर लौट आये। जब थोड़ी देर बाद एक वृद्ध दासी ने उनके वापस जाने की बात नन्द को बतायी, तो उसे दुःख हुआ और उसने बुद्धदेव से माफी माँगने का निश्चय किया। जाने से पहले जब वह रानी के पास गया, तो वह उस समय हाथों पर सुगन्धित लेप लगा रही थी। उसने अनमने ढंग से कहा, "जाइए, मगर मेरे हाथों का लेप सूखने से पहले लौट आना।"

नन्द बुद्धदेव के पास पहुँचा और उसने उनसे क्षमा माँगी। तथागत ने कहा, "नन्द, यदि तुम्हें सचमुच दुःख है, तो मेरा उपदेश ग्रहण करो।" नन्द को रह-रहकर रानी की बात याद आ रही थी—'मेरे हाथों का लेप सूखने से पहले लौट आना।' इसलिए मजबूरन उसे हामी भरनी पड़ी। तथागत ने स्नेहपूर्वक उसे ज्ञानोपदेश दिया, किन्तु नन्द का उस ओर बिलकुल ध्यान न था। बुद्ध ने कहा, "नन्द, तुम सुख और आराम का जीवन व्यतीत

करना चाहते हो न, तो आओ, मैं तुम्हें स्वर्ग लिये चलता हूँ।" उनका इतना कहना ही था कि सारा दृश्य बदल गया। वीरान आश्रम की जगह उसे एक प्रकाशमान रास्ता दिखाई दिया। एक सुन्दर महल में एक सुन्दर उपवन! यही था स्वर्गलोक। स्वर्ग की समृद्धि देख उसकी आँखें चौंधिया गयीं। वहाँ की सुन्दर अप्सराओं को देख उसे अपना राजमहल फीका लगने लगा। स्वर्ग का यह सुख प्राप्त करने के लिए उसका मन छटपटा उठा। बुद्धदेव से यह छिपा न रहा। उन्होंने उससे कहा, "तुम इस सुख को पाना चाहते हो न? मगर इसके लिए तुम्हें कठिन तप करना होगा।" उसके हामी भरने पर उन्होंने उसे तप की विधि समझायी।

बस, उस दिन से नन्द ईश्वर के ध्यान में मग्न रहने लगा। स्वर्ग का सुख पाने के लिए वह इतना अधीर था कि उसका मन किसी भी बात में न रमा। धीरे-धीरे उसे तपस्या में आनन्द मिलने लगा। उसने महसूस किया जैसे उसके ज्ञान के नेत्र खुल गये हैं।

बहुत दिनों बाद एक दिन बुद्ध नन्द के पास गये तो उन्होंने स्नेह से उसके सर पर हाथ फेरते हुए कहा, "नन्द, तुम्हारी तपस्या पूरी हो गयी। अब तुम स्वर्ग का सुख पा सकते हो।" सुनते ही नन्द ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु, क्षमा करें, अब मुझे स्वर्गीय सुख नहीं चाहिए। मेरे नेत्र खुल गये हैं। मुझे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया है। अब मैं भोग-विलास त्यागकर प्रजा के हित की ओर ध्यान देकर सच्चा आनन्द प्राप्त करना चाहता हूँ।" बुद्धदेव मुसकराये और उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया।

(२) अहिंसा परमो धर्मः

भगवान् महावीर का उपदेश सुनने एक दिन मगध-सम्राट् श्रेणिक स्वयं जा पहुँचा। भगवान् ने उस दिन प्रवचन में नरक के दारुण कष्टों का वर्णन किया और नरकवास टालने का उपाय बताया। साथ ही यह भी कहा कि अपने किये कर्मों को स्वयं को ही झेलना पड़ता है।

राजा जब वापस लौटने लगा, तो उसे रास्ते में कसाईघर दिखाई दिया। कालसौकरिक नामक एक कसाई वहाँ प्रतिदिन सैकड़ों भैंसों का वध करता। राजा ने उससे हिंसा त्यागने का आग्रह किया, बदले में मुँहमाँगा धन देने का प्रलोभन दिया। कालसौकरिक ने स्पष्ट रूप से कहा, "राजन्! आपका धन मिलने से मेरी वृत्ति में कोई अन्तर न पड़ेगा। मैं अपनी कमाई खाता हूँ और जीव-हिंसा ही मेरी कमाई है।" उसकी यह स्पष्टोक्ति सुन राजा को गुस्सा आया और उसने कसाई को अन्धकूप में डालने का अपने सैनिकों को आदेश दिया।

अगले दिन श्रेणिक भगवान् महावीर के पास जा पहुँचा और उसने कसाई को दण्ड देने की बात बताकर कहा, "भगवन्! मैंने उसे कठोर दण्ड दिया है, अब वह भैंसों को मार नहीं सकेगा।" सुनकर भगवान् मुसकराये, बोले, "राजन्! यह आपका भ्रम है! वह कसाई हिंसा-कर्म करने का इतना आदी हो चुका है कि उससे यह दुष्कर्म कभी भी छूट नहीं सकता।"

राजा तुरन्त अन्धकूप जा पहुँचा, मगर वह यह देख हैरान रह गया कि कसाई ने वहाँ मिट्टी के सैकड़ों भैंसे बनाकर उन्हें तोड़ दिया है। वह समझ गया कि हिंसा हृदय-परिवर्तन से छूट सकती है, जोर-जबरदस्ती

से नहीं। और उसने कालसौकरिक को मुक्त कर दिया।

कालसौकरिक की मृत्यु के बाद जब उसके लड़के सुलस को अपने पिता का पेशा अपनाने का उसके बिरादरीवालों ने आग्रह किया, तो उसने साफ-साफ बताया कि वह पाप का यह पेशा कभी नहीं अपनाएगा। उसे उसकी माता ने महावीर के उपदेश की बात बतायी थी और इसका उस पर प्रभाव पड़ा था। लेकिन लोग न माने और उस पर जबरदस्ती करने लगे। उन्होंने कहा कि घबराने की कोई बात नहीं, वे उसके साथ हैं।

सुलस ने तुरन्त कुठार उठाया और सामने खड़े भैंसे की ओर देखा। लोग यह देख खुश हो गये, मगर उसने भैंसे पर बार न कर अपनी जाँघ पर वार किया। इससे वहाँ से रक्त की धार बह चली। लोग यह देख घबरा गये और मलहम-पट्टी करने लगे। तब सुलस बोला, "मलहम-पट्टी से कुछ न होगा। कृपया मेरी पीड़ा को बटाएँ। बहुत पीड़ा हो रही है।" लेकिन सब खामोश रहे। तब वह बोला, "जब तुम मेरी पीड़ा में हाथ बटा नहीं सकते, तो मेरे पापों का भागीदार कैसे बनोगे? मैं हिंसा कभी भी नहीं कर सकता, फिर वह पैतृकी क्यों न हो! यह कोई जरूरी नहीं कि अगर पिता अन्धा हो तो पुत्र को भी अन्धा ही होना चाहिए।"

(३) सूधो मन सूधो बचन

सन्त मध्वाचार्य उत्तरभारत की यात्रा पर निकले थे कि रास्ते में विशाल गंगा नदी आ गयी। उनके शिष्य घबरा गये कि आगे कैसे जाएँ। मध्वाचार्य ने कहा, "हम जब भवसागर पार करने निकले हैं, तब नदी

से डरने से काम कैसे चलेगा ?" वे स्वयं नदी में घुस गये और उन्होंने शिष्यों से अपना अनुगमन करने को कहा। हठात् शिष्यगण उनके पीछे-पीछे चलने लगे। लेकिन उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि नदी की उफनती धारा धीरे-धीरे शान्त होती गयी और वे आसानी से नदी के उस पार पहुँचे। मगर आसमान से गिरे खजूर में जा अटके! वे मुगल बादशाह जलालुद्दीन खिलजी के राज्य में प्रवेश कर गये थे और उन्हें दुश्मन के जासूस जान उसके सैनिक तलवार निकालकर सामने आ खड़े हुए। मध्वाचार्य ने उनसे शान्त स्वर में कहा, "मेरे भाई, हम लोग संन्यासी ठहरे! भला हम तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं? हम तो तुम्हारे बादशाह का दर्शन करना चाहते हैं।" और वे लोग आगे बढ़ते रहे। सैनिक उनके कथन से सन्तुष्ट हो गये और वे भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

महल के बरामदे में खड़े जब बादशाह ने देखा कि एक काफिर बैरागी अपने शिष्यों के साथ निडरता के साथ सीमा में प्रवेश कर गया है, तो उसे आश्चर्य हुआ और उसने वहीं से चिल्लाकर पूछा, "ऐ बैरागी, मेरे राज्य में इस प्रकार बेरोक-टोक आने की जुर्रत कैसे की? समझ में नहीं आता, इतनी बड़ी नदी को तुम कैसे पार कर गये!"

मध्वाचार्य ने ऊँचे और मधुर स्वर में जवाब दिया, "हुजूर, घबराइये नहीं, हम लोग आपके राज्य से होकर उत्तर की ओर जाना चाहते हैं। रही नदी पार करने की बात, तो आपका जो अल्लाह है, वही हमारा नारायण है। उसके नाम भले ही अलग हों, है तो वह एक ही।

हम सब उन्हीं की सन्तान हैं। उसी की कृपा से हम लोग यह नदी पार कर सके। आपके सैनिकों से हमने आपसे भेंट कराने की विनती की और उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी।" सन्त की मधुर वाणी और शान्त स्वभाव का बादशाह पर असर पड़ा। वह उन्हें दरबार में ले गया और उसने उनका यथोचित सम्मान किया।

(४) तृष्णा केहि न कीन्ह बौराया

राजा विश्वकेतु ने राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए एक ब्राह्मण को नियुक्त किया था। वह ब्राह्मण था तो प्रकाण्ड विद्वान्, लेकिन नित्य राजसी वैभव को देखते-देखते उसके मन में लोभ और कामवासना जागृत होने लगी। एक दिन जब उसने राजकुमारी प्रियंवदा को देखा, तो उस पर मुग्ध हो गया और उसने राजा से कहा, "महाराज! मैंने राजकुमारों को अनमोल ज्ञानगंगा दी है, इसके बदले में मेरी इच्छा है कि आप मेरा विवाह राजकुमारी के साथ कर दें।"

यह विचित्र माँग सुन राजा को बड़ा बुरा लगा, लेकिन उसे ब्राह्मण जानकर वह बोला, "ब्राह्मणदेवता, आप सरीखे साधुपुरुष के मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते! राजकुमारी गन्धर्वसेन की वाग्दत्त वधू है, इस कारण मैं आपकी इच्छा पूरी करने में असमर्थ हूँ।"

यह सुन ब्राह्मण को गुस्सा आ गया, बोला, "आप यदि मेरी इच्छा पूरी नहीं करेंगे, तो मैं आपको शाप दे दूँगा।" राजा जरा भी विचलित न हुआ और उसने कहा, "जिस ब्राह्मण में धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित की भावना नहीं, उसके शाप से किसी का अनिष्ट नहीं होगा!"

ब्राह्मण गुस्से से वहाँ से निकल पड़ा और गुरु गोरखनाथ के पास जाकर उनकी तन-मन से सेवा करने लगा। एक दिन उन्होंने सेवा से प्रसन्न हो उसकी इच्छा पूछी, तो उसने सारा हाल सुनाकर प्रियंवदा से शादी करने की अभिलाषा व्यक्त की। उन्होंने उसे बताया कि ब्राह्मणों को भोग-विलास और आमोद-प्रमोद से दूर रहना चाहिए, लेकिन वह अपने हठ पर कायम रहा। उसने उनसे कहा, "यदि आप मेरी इच्छा पूरी करें, तो मैं आपको राजगुरु बना दूंगा।" गुरु ने उसकी शर्त स्वीकार कर उसके मुख पर जल के छींटे मारे।

ब्राह्मण ने जब आँखें खोलीं, तो उसने स्वयं को राजसी वस्त्रों में पाया। उसके पीछे सैकड़ों सशस्त्र सैनिक खड़े थे। उसने सैनिकों को राजा विश्वकेतु पर हमला करने का आदेश दिया। दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ और विश्व-केतु बन्दी बनाया गया। ब्राह्मण ने प्रियंवदा के साथ बलात् विवाह किया और स्वयं को राजा घोषित कर राज्य करने लगा।

एक दिन उसके दरबार में एक बूढ़ा साधु आया और उसने राजा से अपना वचन पूरा करने की विनती की। राजा ने आश्चर्य से पूछा, "वचन? कैसा वचन?" तब बूढ़े ने कहा, "क्या तुम भूल गये कि तुमने किसी को राजकुमारी से विवाह करा देने के बदले में राजगुरु बनाने का वचन दिया था?"

यह सुन राजा को गुस्सा आ गया, बोला, "बूढ़े, अगर तूने अनर्गल प्रलाप किया, तो तेरी जबान खींच लूँगा।" बूढ़ा विचलित न हुआ और उसने उसे राजगुरु बनाने की विनती की। राजा को क्रोध आ गया और उसने

सिपाहियों को आदेश दिया, "कोड़ों से बूढ़े की पीठ उधेड़ दो और खूँखार भेड़ियों के सामने डाल दो, ताकि वे इसे नोंच-नोंचकर खा लें।" और यह कहकर उसने बूढ़े को लात मारकर ढकेल दिया।

ज्योंही उसने लात मारी कि उसका सारा शरीर झनझना उठा और आँखें मुँद गयीं। उसने जब आँखें खोलीं तो स्वयं को ब्राह्मण-वेश में पाया और सामने उसे गुरु गोरखनाथ दिखाई दिये। सारी बात उसके ध्यान में आ गयी। उनके चरणों पर गिरकर वह बोला, "गुरुदेव, मेरी आँखों पर अज्ञान का आवरण पड़ा था, जो अब दूर हो गया। क्षमा करें, मुझे अपने ज्ञानोपदेश से मुक्ति का मार्ग दिखाएँ।"

श्री चैतन्य महाप्रभु (३)

स्वामी सारदेशानन्द

(लेखक माता सारदा देवी के शिष्य एवं सेवक रहे हैं। माँ के सम्बन्ध में उनके संस्मरण धारावाहिक रूप से 'विवक-ज्योति' में प्रकाशित हो चुके हैं, जो अब रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा पुस्तकाकार में 'मातृस्नेह की छाया में' के नाम से प्रकाशित किये गये हैं। उनकी रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। —स०)

द्वितीय अध्याय

अध्ययन, अध्यापन, विवाह, भ्रमण, दीक्षा तथा साधना

जगन्नाथ की काफी उम्र हो गयी थी और विश्वरूप के संन्यास से उनके हृदय को प्रबल आघात भी लगा था; अतः उनके जीवन का अस्तकाल आ पहुँचा। अन्तिम समय आ पहुँचने पर माँ-बेटे मिलकर जगन्नाथ को गंगातट पर ले गये। उनके शरीर के निचले भाग को जल में डुबाते समय निमाई शोक से अभिभूत हो उठा और पिता के चरणों में सिर रखकर अविरल अश्रुपात करने लगा। मृत्युशय्या पर पड़े हुए स्नेहार्द्रचित्त पुत्रवत्सल जगन्नाथ ने अपने दुलारे निमाई को हृदय से लगा लिया और तदुपरान्त उसे अपने गृहदेवता श्री रघुनाथ के चरणों में समर्पित करके, रघुनाथ का नाम लेते हुए गंगाजल में ही देहत्याग कर दिया। निमाई ने यथाविधि पिता का अन्तिम संस्कार आदि सम्पन्न किया। अब से वह शोकातुरा माता की सेवा पर विशेष ध्यान देने लगा। अपने अन्तर का शोक छिपाये रखकर बालक निमाई सेवा-

शुश्रूषा, सान्त्वना-उपदेश आदि के द्वारा सर्वदा माँ को सुखी करने के प्रयास में लगा रहता। शचीदेवी भी सभी तरह के प्रयास करतीं कि इस अल्पवयस्क पितृहीन बालक को कष्ट न पहुँचे और अभाव आदि के कारण कहीं उसके चित्त को आघात न लगे।

अब निमाई के ऊपर घर का सारा उत्तरदायित्व आ पड़ा। यद्यपि सगे-सम्बन्धी भी शचीदेवी की यथासाध्य सहायता करते रहते थे, तथापि इतनी अल्प आयु में ऐसी जिम्मेदारी निभाना किसी के लिए भी आसान नहीं है। इतनी कम उम्र में इतना गुरुभार कन्धे पर आ पड़ने से भी निमाई विचलित या कातर नहीं हुए। वे अपना सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म, गृहदेवता रघुनाथ की सेवा-पूजा, अतिथि-अभ्यागतों की देखभाल, शोकार्त जननी की सेवा, घर-गृहस्थी की रक्षा और परिवार के रहने-खाने की सुव्यवस्था आदि दायित्वपूर्ण कार्य यथा-विधि करते हुए भी खूब मन लगाकर पढ़ाई-लिखाई भी करने लगे। उनके स्वभाव में बड़ा ही परिवर्तन आ गया। निमाई अब धीर-स्थिर, गम्भीर और कर्तव्यनिष्ठ हो गये थे।

इन दिनों निमाई पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर गंगादास पण्डित की टोल में व्याकरण की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। गंगादास व्याकरण के बहुत बड़े विद्वान् थे। निमाई की मेधा का परिचय पाकर पण्डितजी भी खूब उत्साहित हुए और वे यत्नपूर्वक निमाई को शिक्षा प्रदान करने लगे। अल्प आयु में निमाई ने विशेष योग्यतापूर्वक व्याकरणशास्त्र का अध्ययन पूरा कर लिया। तदुपरान्त साहित्य एवं अलंकारशास्त्र का ज्ञानलाभ करने के

पश्चात् वे न्यायशास्त्र का अध्ययन करने हेतु विख्यात पण्डित महेश्वर विशारद की टोल में भरती हुए। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके सहपाठी, शिक्षक तथा पण्डितगण सभी विस्मय-विमुग्ध हुए। उन दिनों उस अंचल में न्यायशास्त्र का ही सर्वाधिक आदर और सम्मान होता था। वाद-विवाद में विपक्षी को परास्त करना ही पण्डितों की एकमात्र कामना हुआ करती थी। ऐसे तर्क-वितर्क में निमाई की ही विजय होती, अतः सभी उनका विशेष सम्मान करते और पूरे अंचल में उनकी कीर्ति फैल गयी।

प्राचीन काल में मिथिला नव्य-न्यायशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र थी। देश-देशान्तर के अनेक विद्यार्थी बड़ा कष्ट उठाकर मिथिला जाते और वहाँ न्यायशास्त्र में विशेष योग्यता हासिल करते। मिथिला के पण्डितगण बाहर के विद्यार्थियों को बड़े स्नेहपूर्वक पढ़ाने के बावजूद. उनके घर लौटते समय उन्हें नव्यन्याय की कोई पुस्तक साथ नहीं ले जाने देते थे। ऐसा करते हुए काफी समय तक उन लोगों ने उस शास्त्र में अपना वर्चस्व बनाये रखा। परदेश से आनेवाले पण्डितगण शिक्षा समाप्त कर घर लौटने के बाद पुस्तक के अभाव में अपने छात्रों को उस शास्त्र की उच्च शिक्षा न दे पाते थे। न्यायशास्त्र में विशेष योग्यता लाभ करने हेतु नवद्वीप के छात्रगण भी मिथिला जाया करते थे।

चैतन्यदेव का जन्म होने के कुछ काल पूर्व नवद्वीप का एक ब्राह्मण युवक न्यायशास्त्र पढ़ने को मिथिला गया था। अध्ययन पूरा हो जाने के बाद उसके घर लौटने के समय उससे सारी पुस्तकें छीन ली गयीं। इस पर उस

प्रतिभावान् युवक ने हँसते हुए कहा, "अब बंगाल से आप लोगों के पास पढ़ने के लिए और कोई भी नहीं आएगा।" गुरु को प्रणाम कर आशीर्वाद लेने के बाद वह अलौकिक मेधावी ब्राह्मणकुलतिलक अपने गाँव को लौट आया। नव्यन्याय के सभी प्रमुख ग्रन्थों को वह कण्ठस्थ कर लाया था। अब नवद्वीप में वापस आकर अपनी असाधारण प्रतिभा एवं स्मरणशक्ति के बल पर वह उन समस्त ग्रन्थों का प्रचार करने लगा। नवद्वीप में नव्यन्याय की टोल खुल गयी; वह तथा अन्य अध्यापक मिलकर छात्रों को अत्यन्त सहज सरल पद्धति से उस दुरूह शास्त्र की शिक्षा देने लगे। उसका नाम था वासुदेव सार्वभौम। इसके बाद से अब बंगाली छात्रों को मिथिला जाने की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। वासुदेव के पश्चात् रघुनाथ, जगदीश आदि धीमान् बंगाली पण्डितों ने शोधपूर्ण पुस्तकें लिखकर उस शास्त्र की विशेष उन्नति की। उसी समय से बंगाली लोग ही न्यायशास्त्र के पण्डित के रूप में विख्यात हुए और उस शास्त्र के अध्ययनार्थ अन्य प्रदेशों के शिक्षार्थी भी बंगाल के नैयायिकों के पास आने लगे।

निमाई के विद्यार्थी-जीवनकाल में नव्य-न्याय-शास्त्र नवद्वीप में नया-नया आया था। इसलिए उसके प्रति वहाँ आकर्षण भी खूब था। प्रतिभाशाली अध्यापक तथा छात्रगण इसकी चर्चा में मग्न रहा करते। नित नवीन टीका-टिप्पणी लिखी जाती एवं समालोचित होती रहती थी। वाद-विवाद, तर्क-वितर्क में रास्ता-घाट मुखरित रहता, जनसाधारण और यहाँ तक महिलाएँ भी उसमें रुचि ले रही थीं। निमाई के मन में एक बड़ा नैयायिक होने की बड़ी आकांक्षा थी। अतः वे बड़े मनोयोग के साथ

अध्ययन में लग गये। उनकी प्रतिभा पर सभी विस्मित थे। छात्र-जीवन में ही निमाई ने न्यायशास्त्र के एक प्रमुख ग्रन्थ पर टीका लिखना आरम्भ किया। बात-बात में एक दिन वे अपने एक मेधावी सहपाठी* को उसमें से कुछ अंश पढ़कर सुनाने लगे। सुनते-सुनते उस सहपाठी के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगा, जिसे देखकर निमाई को बड़ा विस्मय हुआ। निमाई उन्हें सान्त्वना देते हुए बारम्बार उनके खेद का कारण पूछने लगे। उनके स्नेह पर मुग्ध होकर सहपाठी ने बताया, "भाई, बड़ा परिश्रम करके मैंने भी उसी ग्रन्थ की एक टीका लिखी है, परन्तु तुम्हारा पठन सुनकर ऐसा लगा कि तुम्हारा ग्रन्थ पूरा हो जाने पर मेरा ग्रन्थ कोई भी न पढ़ेगा।" सहपाठी के दुःख का कारण सुनकर निमाई ने हँसते हुए उसी क्षण स्वलिखित टीका को गंगाजी में विसर्जित कर दिया और अपने सहपाठी को वे अपने ग्रन्थ का प्रचार करने के लिए उत्साहित करने लगे।†

कुछ काल बाद निमाई की पढ़ाई पूरी हुई और तदुपरान्त उन्होंने एक धनाढ्य व्यक्ति के दुर्गा-मण्डप में अपनी टोल प्रारम्भ की और छात्रों को कलाप व्याकरण पढ़ाने लगे। तब उनकी आयु मात्र सोलह वर्ष की थी। अल्प वय होने के बावजूद जब उन्होंने अत्यन्त कुशलता एवं गम्भीरता के साथ छात्रों को पढ़ाना आरम्भ किया तो सभी लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। अच्छे अध्यापक के रूप में उनकी ख्याति शीघ्र ही फैल गयी और चारों ओर से

---

* रघुनाथ, जिन्होंने सुप्रसिद्ध न्यायग्रन्थ 'दीधिति' की रचना की है।

† इसके पूर्व निमाई ने व्याकरण पर भी एक टिप्पणी की रचना की थी और वह विद्यार्थियों में बड़ी लोकप्रिय हुई थी।

बहुत से छात्र उनके पास अध्ययनार्थ आने लगे। तब स्थानाभाव के कारण उनकी टोल स्थानान्तरित होकर नवद्वीप के ही एक अति समृद्धिशाली जमींदार बुद्धिमन्त खान के सुबृहत् मण्डप में चली गयी। बीच-बीच में बड़े-बड़े पण्डितों के साथ उनका शास्त्रार्थ होता और इन वादों में सर्वदा विजयलाभ करने के कारण उनके नाम और कीर्ति की सुगन्ध चारों दिशाओं में फैल गयी। फलतः अल्प आयु में ही वे एक प्रसिद्ध पण्डित के रूप में जाने जाने लगे। पुत्र का गौरव देख शचीदेवी का सीना गर्व से फूल उठा और उनके आनन्द की सीमा न रही।

कुछ काल बाद शचीदेवी तथा सगे-सम्बन्धियों के आग्रह पर निमाई ने लक्ष्मीदेवी नाम की एक परम सुदन्री बालिका का पाणिग्रहण किया। इस सुन्दरी सुशीला बालिका को वधू के रूप में पाकर शचीदेवी का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। बहू भी स्नेहमयी सास की माँ के समान अपने साध्यानुसार सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें सुखी रखने के प्रयास में लगी रहती। उस पूरे अंचल में निमाई पण्डित का नाम और मान बढ़ जाने के कारण उनकी आमदनी में भी वृद्धि हुई। लक्ष्मीदेवी ने भी, बड़ी हो जाने पर, क्रमशः गृहस्थी का कार्यभार सँभाल लिया। शचीदेवी को अब काफी कम परिश्रम करना पड़ता। उनका दुःखपूर्ण गृह पुनः सुखमय हो उठा। भगवान् के पादपद्मों में अपने पुत्र एवं वधू की कल्याण-कामना करती हुई अब वे परम शान्ति के साथ अपने दिन बिताने लगीं।

जगन्नाथ मिश्र अपने पिता-माता तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों से मिलने के लिए बीच-बीच में अपनी पत्नी के साथ श्रीहट्ट जाकर अपनी जन्मभूमि में कुछ काल वास

किया करते थे । विश्वरूप के थोड़ा बड़े होने पर वे एक बार उसे भी साथ लेकर इसी प्रकार श्रीहट्ट जाकर रहे थे । नवद्वीप लौटते समय शचीदेवी गर्भवती थीं । जगन्नाथ की वृद्धा माता शोभादेवी ने स्वप्न में देखा था कि उस गर्भ से एक महापुरुष जन्म लेनेवाले हैं । अतः पुत्र और वधू को विदा करते समय वृद्धा ने आशीर्वाद देते हुए कहा था, "नाती का जन्म होने पर मैं उसका मुख देखना चाहती हूँ ।" नवद्वीप लौट आने के बाद निमाई का जन्म हुआ था, पर जगन्नाथ के जीवनकाल में वृद्धा की वह आकांक्षा पूरी न हो सकी थी । अब पुत्रशोक से आतुर अतिवृद्धा शोभादेवी का अन्तिम समय आसन्न जानकर शचीदेवी ने निमाई को उनके जन्म के पूर्व की बात से अवगत कराया । माँ का अभिमत और दादी की आकांक्षा जानकर एक शुभ दिन निमाई श्रीहट्ट की यात्रा को निकल पड़े ।

उन दिनों पैदल या नाव द्वारा दुर्गम दूर देश की यात्रा करना कितना कष्टकर था, इसकी अब कल्पना तक कर पाना सम्भव न होगा । निमाई पण्डित ने विविध स्थान*, ग्राम, जनपद आदि का दर्शन करते हुए लम्बी यात्रा पूरी करने के पश्चात् श्रीहट्ट के ढाकादक्षिण ग्राम में पहुंचकर अपनी दादी की चरणवन्दना की । परम रूपवान् और गुणवान् पौत्र को देखकर वृद्धा के आनन्द का ठिकाना न रहा; अपने वक्ष से लगाकर आनन्दाश्रु बहाते हुए शोभादेवी उन्हें बारम्बार आशीष देने लगीं । निमाई के नाम-यश

* किसी किसी ग्रन्थ में लिखा है कि वे पद्मा नदी पार करके फरीदपुर, विक्रमपुर, सुवर्णग्राम, एगार सिन्दुर, बेताल परगना होते हुए उस अंचल का समग्र समृद्ध जनपद देखते हुए श्रीहट्ट पहुँचे थे ।

की बात बहुतों ने सुनी थी और अब उनका अपूर्व रूप-लावण्य, असाधारण पाण्डित्य और विनम्र आचरण देख सभी लोग मुग्ध हो गये। अपने कुल-कुटुम्ब के लोगों के साथ निमाई ने परम आनन्द के साथ कुछ काल अपने पूर्वजों की वासभूमि में निवास किया। उन दिनों उस अंचल के अनेक पण्डित, अध्यापक और विद्यार्थी उनसे मिलने और चर्चा करने को आया करते थे। उनके गहन पाण्डित्य, मधुर वार्तालाप तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार से सभी का चित्त उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। निमाई के पूर्वजों ने पहले श्रीहट्ट के ही वरगंगा नामक ग्राम में निवास किया था। निमाई वहाँ भी गये थे और अब भी उस ग्राम का एक स्थान 'चैतन्य का घर' के रूप में जाना जाता है। उनके अपने हाथ की लिखी हुई एक 'श्रीचण्डी' पुस्तक उनके वंश के लोगों द्वारा यत्नपूर्वक रक्षित एवं पूजित थी। प्राचीन ग्रन्थों से ऐसा पता चलता है कि वह पुस्तक उन्होंने अपने हाथ से लिखकर अपने वृद्ध पितामह को दी थी।*

इस प्रकार श्रीहट्ट में कुछ काल अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ आनन्दपूर्वक बिताने के पश्चात् निमाई ने पुनः नवद्वीप के लिए प्रस्थान किया और इस बार भी विविध ग्राम एवं नगरों का परिदर्शन करते हुए धीरे-धीरे घर को लौट आये। श्रीहट्ट-दर्शन तथा पूर्वबंग-भ्रमण करने में उन्हें प्रायः छः महीने से भी अधिक काल लगा था।

प्राचीन काल में देश में ऐसी प्रथा थी कि विद्वान्, पण्डित, कलाकार तथा अन्य गुणी जन देश-देश और गाँव-गाँव में भ्रमण करते रहते थे। राजा, जमींदार तथा धनिक-

---

* शोध करने पर पता चला है कि थोड़े दिनों पूर्व वह पुस्तक एक स्थानीय धर्मोन्मादी व्यक्ति के द्वारा अपहृत कर ली गयी है।

गण इन गुणी अतिथियों का खुले दिल से स्वागत करते थे और रहने-खाने की अच्छी व्यवस्था कर देने के साथ ही स्थानीय लोगों के साथ विचार-विनिमय की भी सुविधा कर देते थे। स्थानीय पण्डित एवं गुणी जनों के साथ अतिथि विद्वानों का जो तर्क-वितर्क होता, उससे उस अंचल में उस विद्या के प्रचार में विशेष सहायता मिलती। विदाई के समय उन विद्वान् एवं गुणी जन को उनकी पदमर्यादा के अनुसार 'विदाई' भेंट देकर सम्मानित करने का भी रिवाज था। इसके फलस्वरूप नौकरी न करने पर भी उन्हें अन्न-वस्त्र का कोई अभाव नहीं होता था। प्राचीन-पन्थी ब्राह्मण पण्डितों में अब भी इस प्रथा का थोड़ा-बहुत प्रचलन देखने को मिल जाता है।

श्रीहट्ट जाते और वहाँ से लौटते समय निमाई ने पूर्व बंगाल के अनेक प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन किया था। उन सभी स्थानों के जमींदार, धनिक, प्रसिद्ध अध्यापक तथा पण्डितों के साथ उनकी मुलाकात और चर्चा होने पर वे लोग निमाई की विद्या-बुद्धि तथा पाण्डित्य का परिचय पाकर मुग्ध हुए थे। इस प्रकार उनका नाम-यश सर्वत्र फैल गया और विदाई के रूप में उन्हें प्रभूत अर्थ, वस्त्र तथा बर्तन आदि प्राप्त हुए। इस भ्रमण के फलस्वरूप निमाई को देश की आन्तरिक अवस्था, समाज की दुरवस्था, धर्म के नाम पर अधर्म की व्यापकता और निम्नवर्ग के लोगों की दुःख-दुर्दशा के बारे में विशेष जानकारी मिली थी।

निमाई की अनुपस्थिति में साँप काट लेने से उनकी प्रियतमा पत्नी लक्ष्मीदेवी का देहावसान हो गया था। पुत्र की अनुपस्थिति और परमप्रिय बहू के देहत्याग के फलस्वरूप शचीदेवी शोकविह्वल हो उठी थीं। निमाई भी

काफी काल तक दूर-दूर की यात्रा करने के पश्चात् जब विपुल अर्थ-वस्त्र आदि के साथ घर लौटे तो अपनी प्रियतमा पत्नी के अभाव में उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा।

व्यक्तिगत सुख-दुःख तो लगा ही रहता है और संसार अपने नियमानुसार चलता जाता है। निमाई के नवद्वीप लौट जाने के पश्चात् विद्यार्थी पुनः उनके पास आ जुटने लगे और वे भी पूर्ववत् ही बुद्धिमन्त खान के बृहत् मण्डप में टोल खोलकर उन लोगों को पढ़ाने लगे। इसके थोड़े ही दिन बाद सबके अनुरोध पर उन्होंने विष्णुप्रिया देवी नाम की एक अन्य परम सुन्दरी एवं गुणवती कन्या के साथ विवाह करके अपनी माताजी के चित्त में आनन्द का स्रोत प्रवाहित किया। उनके विशेष अनुगत धनवान् जमींदार बुद्धिमन्त खान द्वारा उनके विवाह का सारा व्यय-भार स्वयं वहन कर लेने के कारण इस बार का विवाह बड़े धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ और उनके छात्र, अध्यापक तथा सगे-सम्बन्धियों ने मिलकर विवाहमण्डप को आनन्द से मुखरित कर दिया। विष्णुप्रिया के पिता भी ऐश्वर्यवान् थे, अतः प्राणों से भी प्रिय इकलौती पुत्री को प्रभूत दहेज के साथ सुपात्र को दान किया। ससुराल में आकर पति-परायणा विष्णुप्रिया देवी अनन्य मन से सास एवं पति की सेवा करने लगीं। इधर निमाई पण्डित की टोल की ख्याति दिन पर दिन बढ़ती ही गयी। इन्हीं दिनों एक दिग्विजयी पण्डित* को काव्यचर्चा में परास्त कर देने के कारण उनका यश चतुर्दिक् और भी फैल गया और निमन्त्रण और 'विदाई' आदि में वृद्धि हो जाने से उनकी गृहस्थी की हालत भी खूब सुधर गयी। शचीदेवी पुत्र और पुत्रवधू के साथ

* काश्मीर देश के वे विद्वान् केशवाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे।

परम आनन्दपूर्वक जीवन यापन करने लगीं।

अद्वैताचार्य, श्रीवासाचार्य, मुकुन्द, मुरारी आदि भक्तों का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं और विश्वरूप के साथ आचार्य की सभा में निमाई का आना-जाना तथा उनके ऊपर भक्तों की प्रीति की भी चर्चा कर आये हैं। विश्वरूप के गृहत्याग के बाद से निमाई के साथ उन लोगों का सम्पर्क एक तरह से छिन्न ही हो गया था। निमाई से भेंट न हो पाने पर भी आचार्य तथा अन्य भक्तगण उन्हें भूल नहीं पाते थे। उन लोगों के हृदय में प्रबल आकांक्षा थी कि निमाई का चित्त भगवान् की ओर आकृष्ट हो। निमाई का पाण्डित्य-गौरव, नाम-यश चारों तरफ खूब फैल जाने से लोग तो धन्य-धन्य कहने लगे, परन्तु भक्तगण इससे आनन्दित नहीं हुए। वे लोग आपस में कहते, "ऐसे भगवन्निष्ठ महद्वंश में जन्म लेकर भी निमाई पण्डित आखिरकार एक 'तर्कयोद्धा' मात्र होकर रह गये, यह बड़े ही दुःख की बात है। रास्ते-घाट पर उनसे मुलाकात होने पर वे लोग उनके साथ भगवत्प्रसंग छेड़ना चाहते, परन्तु निमाई व्याकरण, साहित्य और तर्कशास्त्र के आधार पर शास्त्रार्थ करने को उनका आह्वान करते। निमाई भगवच्चर्चा की ओर कान तक न देते। वे अपने संगियों के साथ हँसी-ठिठोली और रसरंग प्रारम्भ कर देते। इसीलिए भक्तगण उन्हें देखते ही उनसे कन्नी काट जाने का प्रयास करते, परन्तु वे लोग बच नहीं पाते थे। महाबलवान् निमाई दौड़कर रास्ता रोककर खड़े हो जाते और तरह-तरह के व्यंग्य-विनोद से उन्हें परेशान कर डालते।

मुरारी गुप्त का जन्मस्थान श्रीहट्ट था। प्रतिभावान् गुप्त ने कम आयु में ही काफी पाण्डित्य अर्जित कर लिया

था और अपने चिकित्सा-व्यवसाय में भी बड़ी ख्याति पा ली थी। निमाई के घर के निकट ही मुरारी गुप्त का भी निवास था। बचपन से ही दोनों की जान-पहचान थी। मुरारी आयु में निमाई से दस-बारह वर्ष बड़े थे। वे अपने पाण्डित्य के प्रति थोड़ा अभिमानी होते हुए भी श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे। उनका बचपन से ही निमाई के प्रति हार्दिक स्नेह था, परन्तु निमाई मौका पाते ही उन्हें तंग करने का प्रयास करते। मुरारी को देखते ही वे उन्हें 'हट्टिया' कहकर सम्बोधित करते। मुरारी जब नाराज होकर उनका परिचय पूछते तो निमाई 'हट्टिया' (अर्थात् श्रीहट्ट की) बोली की नकल करते हुए तरह-तरह के हँसी-तमाशे शुरू कर देते। नवद्वीप में ही श्रीधर नाम का एक अन्य भक्त था, वह अत्यन्त निर्धन एवं निरीह था; वह केले* का फूल, तना, पत्ते बेचकर अपनी जीविका चलाता। वह गम्भीर रात्रि में अपने घर में बैठकर उच्चस्वर में भगवन्नाम-कीर्तन करता। इस कारण उसके पड़ोस में रहनेवाले संसारी लोग उसका उपहास करते हुए कहते—

महामूर्ख इस बेचारे का पेट नहीं भरता है।
क्षुधा-व्यथा से तभी रात में चिल्लाता मरता है॥

बेचारे गरीब श्रीधर के प्रति निमाई के उपद्रव की कोई सीमा न थी। बाजार में जाते ही निमाई उसके पास जा पहुँचते और बिना कीमत दिये ही केले के फूल तथा तने आदि लेने का दावा करते। श्रीधर उनसे अनुनय-विनय करके अपनी गरीबी की बात कहकर उन्हें रोकने का प्रयास करता, परन्तु वे कुछ न कुछ लेकर ही लौटते। अन्त में तय

* बंगाल में केले के फूल तथा तने के भीतरी अंश की सब्जी बड़ी लोकप्रिय है। (अनु०)

हुआ कि श्रीधर उन्हें तने का एक टुकड़ा और भोजन करने के लिए एक पत्ता मुफ्त ही दे दिया करेगा। शचीदेवी के मना करने के कारण निमाई अद्वैताचार्य के साथ बिल्कुल भी मिलते-जुलते नहीं थे। आचार्य भी उन्हें पाण्डित्याभिमानी युवक समझकर यद्यपि उनसे दूरी बनाये रखते, तथापि मन ही मन उनके प्रति एक प्रबल आकर्षण का अनुभव कर उनके कल्याण एवं भक्तिलाभ हेतु सर्वदा भगवान् से प्रार्थना करते रहते।

कुछ काल बाद नवद्वीप में एक वयस्क संन्यासी का आगमन हुआ। शान्त संयमित ईश्वरप्रेमिक इस संन्यासी के दर्शन कर निमाई उनकी ओर आकृष्ट हुए। एक दिन उन्होंने संन्यासी को अपने घर निमन्त्रित करके श्रद्धा, भक्ति एवं यत्नपूर्वक भिक्षा प्रदान की। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि इनका नाम श्रीमत् स्वामी ईश्वरपुरी है; ये श्रीमत् माधवेन्द्रपुरीजी के शिष्य तथा अद्वैताचार्य के गुरुभ्राता हैं। इन संन्यासी के साथ वार्तालाप करके निमाई को बड़ी तृप्ति मिली और संन्यासी भी निमाई के आचरण एवं शची तथा विष्णुप्रिया के हार्दिक आतिथ्य से अतीव सन्तुष्ट हुए। पुरीजी गंगास्नान तथा गंगातट पर निवास करने की इच्छा से नवद्वीप आये थे। इसी उद्देश्य से वे वहाँ पर एक सद्गृहस्थ ब्राह्मण भक्त के यहाँ एक माह से भी अधिक काल तक ठहरे थे। उन्हें अपने बीच पाकर नवद्वीपवासी भक्तों के प्राण अतीव आनन्द से परिपूर्ण हो गये।

ईश्वरपुरीजी उन दिनों श्रीकृष्णतत्त्व तथा भक्ति-विषयक एक ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। नवद्वीप में ही उस ग्रन्थ का लेखन पूर्ण हुआ। निमाई पण्डित के अगाध

पाण्डित्य की बात उनके भी कानों में पड़ी थी। अब जान-पहचान हो जाने पर पुरीजी ने उनसे इस ग्रन्थ को एक बार देख लेने का अनुरोध किया। निमाई ने अत्यन्त विनय एवं नम्रतापूर्वक पुरीजी को बताया कि भगवत्तत्त्व तथा भक्ति-शास्त्र में वे अनधिकारी हैं, अतः इस ग्रन्थ की समीक्षा करने की उनमें योग्यता नहीं है। निमाई पण्डित की निरभिमानिता एवं सौजन्य से मुग्ध हो पुरीजी ने उनसे ग्रन्थ के व्याकरणगत दोष तथा भाषा पर अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। इस पर उन्होंने उस ग्रन्थ को भलीभाँति देखकर अपने मत से पुरीजी को अवगत करा दिया।

पुरीजी के सत्संग तथा उनके ग्रन्थ पर चर्चा ने निमाई के मन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। पाण्डित्य और तर्क-वितर्क में अब उनमें पहले के समान उत्साह नहीं रह गया तथा अध्ययन-अध्यापन की ओर भी उनका रुझान कम हो गया। फिर दिन पर दिन वे अपने नाम-यश के प्रति भी विरक्त होने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीता। तत्पश्चात् एक दिन निमाई ने अपने पितरों को पिण्डदान करने के लिए गया की यात्रा की। उनके साथ उनके मौसा चन्द्रशेखर आचार्य, कुछ अन्य सम्बन्धी एवं छात्र भी चले। पैदल ही अनेक अंचलों का भ्रमण करते हुए, पश्चिमी बंगाल तथा बिहार के बहुतेरे दर्शनीय स्थानों का अवलोकन करते हुए वे लोग गयाधाम पहुँचे। उन लोगों ने वहाँ शास्त्रविधि के अनुसार तीर्थकृत्य सम्पन्न किया, फल्गुनदी में स्नान किया, तर्पण-श्राद्ध-विष्णुपद में पिण्डदान तथा अक्षयवट के नीचे दान किया। इस प्रकार गदाधर एवं गयेश्वरीदेवी का दर्शन एवं पूजन करते हुए वे अत्यन्त आनन्दपूर्वक गयाधाम

में दिन बिताने लगे। उन्हीं दिनों श्रीमत् ईश्वरपुरी इस पुण्यक्षेत्र में रहकर भगवद्भजन में रत थे। यहाँ पुनः उनका दर्शन पाकर निमाई को बड़ा आनन्द हुआ। भगवत्प्रेम में विभोर पुरीजी के साथ मेलमिलाप एवं वार्तालाप के फलस्वरूप निमाई की उनके साथ घनिष्ठता क्रमशः बढ़ने लगी। निमाई पुरीजी को आमंत्रित करके अपने हाथ से भोजन पकाकर उन्हें भिक्षा प्रदान करते और उनके मुख से भगवत्तत्त्व एवं प्रेमभक्ति की बातें सुनते। क्रमशः भगवद्भक्ति का आस्वादन पाकर उनका हृदय पूर्णतः परिवर्तित हो गया। उन्हें शास्त्र-चर्चा, तर्क-वितर्क, जय-पराजय आदि अति तुच्छ प्रतीत होने लगे और यह सोचकर उन्हें अनुताप होने लगा कि मैंने अपना इतना काल इन व्यर्थ के कार्यों में ही गँवा दिया। श्रीमत् ईश्वरपुरीजी से श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा लेकर निमाई साधन-भजन में डूब गये। गया का कार्य भलीभाँति सम्पन्न करके कुछ दिनों बाद जब वे घर लौटे तो उनकी मति-गति तथा जीवनधारा बिल्कुल ही पलट चुकी थी। ऐसा लगता मानो वे एक नये ही व्यक्ति हों। इस बार के भ्रमण में उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि की उपलब्धि हुई थी और साथ ही देश एवं समाज की दुरवस्था के प्रत्यक्ष अवलोकन करने का भी अवसर मिला था।

निमाई के घर लौटने पर उनकी माता, पत्नी तथा सगे-सम्बन्धी सब लोग उनकी मनःस्थिति एवं चालचलन देखकर तथा उनकी बातचीत सुनकर बड़े ही अचरज में पड़े एवं शंकित हो गये। अब भगवच्चर्चा को छोड़ अन्य किसी भी विषय पर बातें करना उन्हें पसन्द न था; पूजा-अर्चना और जप-ध्यान में ही उनके दिन का अधिकांश भाग

बीतता, रात में भी वे साधन-भजन में ही डूबे रहते। गृहस्थी के कार्यों में उनका मन न लगता और अध्यापन के लिए भी उन्हें समय नहीं मिलता। लोगों के साथ उनका मेलजोल बिल्कुल बन्द हो गया और वे एकान्त में चुपचाप अपने भाव में डूबे रहते। भगवान् का नाम लेते ही उनके नेत्रों का जल सीने को भिगो देता। बीच-बीच में वे करुण स्वर में शोक करते हुए लम्बी साँसें भरने लगते।

पुत्र की हालत देख शचीदेवी के तो भय से प्राण ही सूख गये। विष्णुप्रिया भी पति के लिए चिन्तित हो उठीं और अपना शयन-भोजन भूलकर दिनरात प्राणपण से उनकी सेवा करने लगीं। पुत्र का स्वास्थ्य सुधारने के लिए शचीदेवी ने तरह-तरह के प्रयास किये परन्तु कोई लाभ न हुआ, उल्टे उनके भाव में दिन पर दिन वृद्धि ही होती गयी। सगे-सम्बन्धियों तथा विज्ञ-सुधीजनों ने सब कुछ देख-सुनकर निश्चय किया कि उन्हें वायुरोग हो गया है, जो अच्छी चिकित्सा से दूर हो जाएगा। फलतः अच्छी तरह से उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया, सिर पर अनेक प्रकार के ठण्डे तेलों की मालिश की गयी, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। अध्ययन हेतु विद्यार्थियों के आने पर निमाई उनसे अनुनय के स्वर में कहते, "भाई, अब मुझमें पढ़ाने की क्षमता नहीं रही, तुम दूसरे अध्यापक के पास जाओ।" उनके कुछ विशेष अनुगत एवं प्रिय छात्र किसी भी प्रकार उनका पीछा न छोड़ते। उन सबके आग्रह-अनुरोध पर कभी-कभी निमाई उन्हें पढ़ाने बैठते, परन्तु पढाना प्रारम्भ करते ही वे भगवद्भाव में विभोर हो पाठ्य पुस्तक के विषय को छोड़कर भगवच्चर्चा ही करते रह जाते। अन्ततः छात्रों ने दुःखी हो एक-एक करके विदा ले

ली और उनका विद्यालय टूट गया। निमाई अब निश्चिन्त होकर एकाग्रचित्त से कठोर साधन-भजन में डूब गये। शचीदेवी के हृदय में भीषण उद्वेग उत्पन्न हो गया कि कहीं विश्वरूप के ही समान निमाई भी सन्यासी होकर न चला जाय। वे दिनरात आँसू बहाते हुए हाथ जोड़े भगवान् से निमाई के लिए प्रार्थना करने लगीं।

निमाई पण्डित के अद्भुत परिवर्तन की बात नवद्वीप में फैल गयी। निमाई के अध्यापक गंगादास पण्डित यह खबर पाकर अत्यन्त दुःखी हुए और एक दिन आकर उन्हें समझाने का प्रयास करने लगे। गंगादास ने निमाई को उपदेश देते हुए कहा, "निमाई, तुम एक निष्टावान् ब्राह्मण की सन्तान हो, पण्डित हो; फिर क्यों अध्ययन-अध्यापन छोड़कर रातदिन 'कृष्ण कृष्ण' करते रहते हो? छात्रों को पढ़ाओ, गृहस्थी सँभालो, स्वधर्म का पालन करो, इसी से तुम्हें चतुर्वर्ग* की प्राप्ति होगी।" निमाई हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोले, "आचार्य! मेरी तो इच्छा है कि संसार की रक्षा हो, परन्तु क्या करूँ? मेरा मन तो अब मेरे वश में नहीं रहा, मानो कोई बलपूर्वक मुझे दूसरी ओर खींचे लिये जा रहा है। आप लोग मुझे क्षमा करें, क्षमता रहने पर मैं अवश्य ही आप लोगों की आज्ञा का पालन करता, परन्तु अब ऐसा कर पाना मेरी शक्ति के परे है।" बहुत समझाने-बुझाने पर भी कोई लाभ न होता देख गंगादास ने दुःखी चित्त से विदा ली।

कृष्णानन्द आगमवागीश निमाई के सहपाठी तथा नवद्वीप के प्रसिद्ध नागरिक थे। एक दिन वे आकर निमाई को कर्मकाण्ड की महिमा समझाने लगे और कृष्णनाम तथा

---

* धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। (अनु०)

कृष्णभक्ति का अतिरेक छोड़ गार्हस्थ्य धर्म में मनोनियोग करने का सदुपदेश देने लगे। भगवद्भक्ति-विरोधी बातें सुन निमाई को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने नाराज हो पण्डितजी को विदा कर दिया। कृष्णानन्द भी रुष्ट होकर चले गये और लोगों में प्रचार करने लगे कि निमाई पण्डित पागल हो गया है।

निमाई के भावान्तर का संवाद पाकर अद्वैताचार्य, श्रीवास, मुकुन्द, मुरारी, दामोदर, श्रीधर और उनके विशेष अनुगत बाल्यबन्धु सहपाठी गदाधर, जगदानन्द आदि भक्तगण उनसे मिलने को आये। निमाई की बातें सुनकर, उनका चालचलन और आचरण देखकर उन लोगों का अन्तर पुलकित हो उठा। वे लोग स्पष्ट रूप से समझ गये कि निमाई के हृदय में अत्युच्च कोटि की भाव-भक्ति का प्रकाश हुआ है। आनन्दपूर्वक उन लोगों ने निमाई के साथ भगवच्चर्चा आरम्भ कर दी। उन्हें पाकर निमाई के प्राण शीतल हुए। अत्यन्त आत्मीय जानकर निमाई ने उन भक्तों के प्रति स्नेह और सम्मान प्रदर्शित किया। अद्वैताचार्य और श्रीवासाचार्य आदि वरिष्ठजनों ने शचीदेवी को आश्वस्त करते हुए कहा, "निमाई की इस अवस्था के लिए चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह मानसिक विकार अथवा पागलपन नहीं है, अपितु एक अति दुर्लभ वस्तु है। तीव्र साधन-भजन के फलस्वरूप भगवान् के विशेष कृपापात्र उच्चाधिकारी लोगों को ही यह देवदुर्लभ अवस्था प्राप्त होती है। यह भगवद्भक्ति का चिह्न है; कुछ दिनों बाद वह शान्तभाव में आ जाएगा।" वयस्क अनुभवी शुभाकांक्षी लोगों की बात सुनकर शचीदेवी के मन को थोड़ा धीरज बँधा।

भगवद्भक्ति-विभोर अनन्यचित्त निमाई एकाग्र मन से साधना में डूब गये और क्रमशः विविध प्रकार की उच्च से उच्चतर अनुभूतियों की उपलब्धि करने लगे। उनके मन और प्राण दिव्य आनन्द से भर जाने के कारण उनकी व्याकुलता एवं मनोव्यथा का धीरे-धीरे उपशम होता गया तथा चित्त में प्रशान्ति का आगमन होने लगा। उनकी अद्भुत अवस्था तथा भगवद्भक्ति के बारे में जानकर नवद्वीपवासी भक्तों का चित्त उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वे लोग निमाई का संग पाने को परम आनन्दपूर्वक उनके पास बारम्बार आवागमन करने लगे। भक्तों के साथ निमाई को भी बड़ा आनन्द मिलता। पुत्र को आनन्दित देख शचीदेवी के प्राण शान्त हुए और विष्णुप्रिया का हृदय भी आश्वस्त हुआ।

भगवच्चर्चा और भजन-कीर्तन के अवसर पर निमाई में क्रमशः विविध प्रकार के अद्भुत भावावेशों की अभिव्यक्ति देखकर भक्तों के विस्मय का ठिकाना न रहा। वे लोग अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी सेवा-टहल करने लगे। निमाई भी भगवद्भाव में क्रमशः सोलहों आने डूब गये। उनका पहले का स्वभाव एवं चरित्र अब बिल्कुल ही पलट गया। उच्च-उच्च अवस्थाओं की बारम्बार अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उनकी सुन्दर देह अब सर्वदा एक दिव्य ज्योति से दीप्त प्रतीत होती। फलस्वरूप बहुत से लोग उनकी ओर आकृष्ट होने लगे। उनके मधुर उपदेशों एवं अलौकिक प्रेमभाव से लोगों का चित्त मुग्ध हो गया। भक्तों की संख्या में भी दिन पर दिन वृद्धि होने लगी। अब बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी सभी ने समझ लिया कि निमाई पण्डित एक असामान्य महापुरुष हैं। अब से निमाई

भक्तों के साथ मिलकर भगवच्चर्चा एवं भजन-कीर्तन करते हुए परम आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। भक्तों के समागम, उनके भक्ति-प्रेम तथा अयाचित दान-उपहार के फलस्वरूप शचीदेवी के घर में अब नित्य उत्सव होने लगा। फिर बीच-बीच में विशेष विशेष भक्तों के घर भी निमाई भक्तों के संग मिलकर आनन्दोत्सव करने लगे। निमाई और उनके परिवार का भक्तों के साथ एक नवीन एवं मधुरतर सम्बन्ध जुड़ गया।

अद्वैताचार्य के प्रति अपनी माताजी के पहले का मनोभाव तथा कटूक्तियों का स्मरण हो आने पर एक दिन निमाई ने शचीदेवी से अनुरोध किया कि वे आचार्य के पास जाकर इसके लिए क्षमायाचना कर लें। शचीदेवी भी अपने पूर्व व्यवहार की याद करके बड़ी पछतायीं और अद्वैताचार्य के पास जाकर क्षमा माँगने लगीं। आचार्य शचीदेवी के कथन एवं आचरण से बड़े लज्जित हुए और स्वयं को ही अपराधी मानकर उन्हें पुनः पुनः प्रणाम एवं आशीर्वाद की याचना करने लगे। उस दिन से मिश्र एवं आचार्य परिवारों के बीच का सम्बन्ध पुनः घनिष्ठतर होने लगा।

मुरारी गुप्त, मुकुन्द, श्रीधर, गदाधर, जगदानन्द, दामोदर आदि अन्तरंग भक्तों ने अब से निमाई के प्रति पूर्णतः आत्मसमर्पण कर दिया। उनके पुनीत स्पर्श से इन सबके प्राणों में आनन्द की हिलोरें उठने लगतीं। अधिकांश समय निमाई के साथ बिताना, उनके मतानुसार जीवन-यापन और उनके आदेशों का अक्षरशः पालन करना—इसी को भक्तों ने अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया।

निमाई ने भक्तों के साथ मिलकर नवद्वीप में भक्ति-

प्रेम का एक प्रबल स्रोत प्रवाहित कर दिया। समाज आन्दोलित हो उठा, लोगों के मन में नवीन जागरण के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। इसी समय श्रीमत् हरिदास और प्रभुपाद नित्यानन्द के आगमन से इस भक्तिधारा में प्रबल तरंगें उठने लगीं और वह दुगुने वेग से दोनों तटों को डुबाते हुए बह चली।

(क्रमश:)

o

ध्यानयोग का प्रसाद

(गीताध्याय ६, श्लोक १८-२३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।६/१८।।

यदा (जब) विनियत (अच्छी तरह से वश में किया हुआ) चित्त (चित्त) सर्वकामेभ्यः (समस्त कामनाओं से) निःस्पृहः (निःस्पृह होकर) आत्मनि (अपने में) एव (ही) अवतिष्ठते (स्थित हो जाता है) तदा (तब) युक्तः (युक्त) इति (ऐसा) उच्यते (कहा जाता है)।

"जिस समय अच्छी तरह से वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से निःस्पृह हो अपने में ही स्थित हो जाता है, उस समय (उस पुरुष को) 'युक्त' कहा जाता है।"

पूर्व श्लोकों में योगी के लिए सावधानी बतायी गयी। जब वह उक्त सावधानी का पालन करता हुआ ध्यानयोग का अभ्यास करता है, तो वह उसकी पूर्णता की ओर सही कदमों से आगे बढ़ता है। प्रस्तुत श्लोक में यह बता रहे हैं कि वह पूर्णता की स्थिति क्या है तथा उसमें क्या होता है। कहते हैं कि उस समय साधक का चित्त (१) अच्छी तरह से नियंत्रित हो जाता है, (२) समस्त कामनाओं के प्रति वह स्पृहाहीन हो जाता है और (३) अपने में ही स्थित हो जाता है।

'विनियत' का अर्थ है विशेष रूप से नियंत्रित। चित्त-सरोवर में सतत वृत्तियों की लहरें उठती रहती हैं। जब इन लहरों का उठना बन्द हो जाता है, तो उस अवस्था

को विनियंत्रित अवस्था कहते हैं। अब सरोवर में लहरें दो कारणों से उठती हैं--एक तो है बाहर का कारण और दूसरा, भीतर का। बाहर से कोई वस्तु आकर सरोवर में गिरी, तो लहरों का उठना शुरू हो जाता है। हम सरोवर को शान्त देख रहे हैं। इतने में हम एक कंकड़ उसमें फेंकते हैं। तुरन्त जल में लहरियाँ बनने लगती हैं। यह बाहर का कारण है। दूसरा भी कारण होता है। अभी देखा जल एकदम शान्त है कि अचानक एक बुलबुला नीचे से ऊपर जल की सतह पर आया और फूट गया। बुलबुले के फूटते ही लहरियाँ बननी शुरू हो गयीं। इस दूसरे कारण को भीतरी कहते हैं। यहाँ बाहर से विक्षेप पैदा करनेवाला कोई पदार्थ नहीं था। बुलबुला भीतर से पैदा होता है।

इसी प्रकार चित्त-सरोवर में भी वृत्ति-लहरें दो कारणों से उठा करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषयों का जो सेवन है, वह चित्त की चंचलता का बाहरी कारण है। पर जब बाहर में विषय-भोगों का सेवन न हो और हम मन से उनका सेवन करते रहें, तब जो चित्त की चंचलता होती है, उसे भीतरी कारण कहते हैं। इसी को 'स्पृहा' भी कहा जाता है। भले ही भौतिक और स्थूल रूप में भोगों का त्याग कर दिया जाय, पर यदि उनके प्रति स्पृहा बनी हुई है, तो चित्त-सरोवर क्षुब्ध होगा ही। यह तो दिन-प्रतिदिन का अनुभव है कि मनुष्य के सामने काम और क्रोध आदि के विषय नहीं हैं, पर उनकी स्मृति ही उसे उत्तेजित कर देती है। यही 'स्पृहा' का रूप है।

इस प्रकार 'विनियत चित्त' वह है, जहाँ हमने बाहर के विक्षेपों के आने का द्वार बन्द कर दिया। पर भीतर से विक्षेप तो आ ही सकते हैं। योग की पूर्ण स्थिति में भीतर

मे आनेवाले विक्षेपों का दरवाजा भी बन्द कर दिया जाता है । इसी को 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' कहकर सूचित किया है । जैसा कि हम कह चुके हैं, कामना ही, काम्य वस्तुओं की स्पृहा ही, भोगे हुए सुख की स्मृति ही चित्त में भीतर से चंचलता पैदा करती है । जब भोग की उस पूर्ण स्थिति में विक्षेप के बाहरी और भीतरी दोनों दरवाजे बन्द हो जाते हैं, तब चित्त 'आत्मन्येव अवतिष्ठते'---अपने में ही स्थित हो जाता है ।

हम चित्त के अपने में ही स्थित होने का वर्णन अपने २ रे, १८ वें एवं ७१वें गीताप्रवचन में कर ही चुके हैं । हम बता चुके हैं कि हमारे मन में असीम सम्भावनाएँ निहित हैं, उसमें अनन्त शक्ति है, पर हमें इसका पता इसलिए नहीं चलता कि हमारा मन आज बिखरा हुआ है, उसके अनगिनत अग्र हैं । इसीलिए हमारे मन में भोथरापन है, उसमें भेदनशक्ति नहीं है । जैसे सामान्य आलोक-किरण में कोई penetrating power (भेदनशक्ति) नहीं होती, वह कपड़े तक को नहीं भेद पाती, पर जब उसी की 'फ्रीक्वेंसी' (frequency) बढ़ा दी जाती है या उसकी 'वेभलेंथ' (wave-length) कम कर दी जाती है, तो वही 'एक्स-रे' बनकर चमड़े तक को भेद डालती है, वैसे ही आज हमारा मन बिखरा हुआ होने के कारण अपनी शक्ति को, अपनी सम्भावनाओं को पहचान नहीं पा रहा है; पर जब उसे एक-अग्र कर दिया जाता है, तो उसकी निहित शक्ति और सम्भावनाएं प्रकट होने लगती हैं । सूर्य-किरणों में ताप है, वह वे तभी कागज या अन्य किसी वस्तु को जला पाती हैं, जब आतशी शीशे के द्वारा उन बिखरी हुई किरणों को एकाग्र कर उस वस्तु पर डाला

जाता है। मन भी एकाग्र होने पर अपनी अकल्पनीय शक्तियों को प्रकट करने लगता है।

साधारण तौर पर ध्यान कहने से हमें मन की एकाग्रता का ही बोध होता है, पर ध्यानयोग में केवल मन की एकाग्रता से काम नहीं बनता। वैसे तो मन अपनी अभिरुचि के विषय में स्वयं एकाग्र हो जाता है। जैसे यदि मुझे संगीत में रुचि है, तो मेरा मन संसार की अन्य वस्तुओं से स्वयं ही सिमट आएगा और संगीत में केन्द्रित हो जाएगा। मैं अपनी चित्तवृत्तियों को दुनिया से बटोरकर संगीत में जितना ही लगा सकूँगा, मेरा संगीत उतना ही बढ़िया होगा। जब एक चित्रकार अपनी चित्तवृत्तियों को अन्य विषयों से समेटकर चित्रकारी में केन्द्रित करता है, तो बढ़िया चित्र बनाता है। ऐसा ही सभी विषयों पर यह सत्य लागू होता है। पर यह ध्यानयोग की एकाग्रता नहीं है। ध्यानयोग की एकाग्रता वह है, जब हम चित्तवृत्तियों को बाहर के समस्त विषयों से समेटकर स्वयं चित्त के ऊपर ही केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार लौकिक एकाग्रता और ध्यानयोग की एकाग्रता में अन्तर यह हुआ कि प्रथम में हम चित्तवृत्तियों को समेटकर अपने से बाहर अन्य वस्तु में केन्द्रित करते हैं, जबकि दूसरी में हम उन्हें चित्त के ऊपर ही लगाते हैं। फल यह होता है कि चित्त अपनी ही परतों को भेदने लगता है और एक दिन त्रिपुटिन होकर आत्मतत्त्व में समाहित हो जाता है। 'माण्डूक्य उपनिषद्' इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहता है—'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'— 'वह प्रपंचों का उपशम-रूप, शान्त, शिव और अद्वैत-रूप चौथी (तुरीय) अवस्था है, वही आत्मा है, वही जानने-

योग्य है।' इसी अवस्था को प्रस्तुत श्लोक में चित्त का अपने में ही स्थित हो जाना (आत्मनि एव अवतिष्ठते) कहा है। और यही 'योगयुक्त' होने की भी अवस्था है। १५वें श्लोक में जिस समाधि का वर्णन है, वह 'सविकल्पक' है और यहाँ पर चित्त की जिस स्थिति का वर्णन किया गया है, उसे 'निर्विकल्पक समाधि' कहा जाता है।

अब अगले श्लोक में योगी के चित्त की इस अविचल अवस्था को एक उदाहरण के माध्यम से समझाते हैं--

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६/१९॥

यथा (जिस प्रकार) निवातस्थः (वायुरहित स्थान में स्थित) दीपः (दीपक) न (नहीं) इंगते (कम्पित होता) सा (वही) उपमा (उपमा) आत्मनः (अपने आत्मस्वरूप के) योगं युञ्जतः (ध्यान में लगे हुए) योगिनः (योगी के) यतचित्तस्य (वश में किये हुए चित्त की) स्मृता (कही गयी है)।

"जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक कम्पित नहीं होता, वैसी ही उपमा अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में लगे हुए योगी के वश में किये हुए चित्त की कही गयी है।"

यहाँ पर दीप की लौ के साथ मन की जो उपमा दी गयी है, वह बड़ी सार्थक है। दीपशिखा सतत चलनशील होती है. प्रतिक्षण अनगिनत स्फुलिंग जलकर उसका निर्माण करते हैं। इसी प्रकार मन भी सतत चलायमान है और अनगिनत विचारसमूहों से वह बना है। स्फुलिंग के कणों के समान ही विचारों का प्रवाह बहता रहता है। विचारों की यह प्रवहमानता ही मन के रूप में भासित होती है। मन या चित्त की स्थिरता का तात्पर्य है विचारों के इस प्रवाह का बन्द हो जाना। इसके स्वरूप को समझाने

के लिए दीपशिखा का उदाहरण दिया जा रहा है। जैसे दीपक की लौ स्वभाव से चंचल होती है, पर जब वायुरहित स्थान में दीपक को रखा जाय तो जैसे उसकी लौ निष्कम्प प्रतीत होती है, वैसी ही निष्कम्पता योगी के वश में किये हुए चित्त की होती है। इसी स्थिति को १८वें श्लोक के पूर्वार्ध में सूचित किया गया है। पतंजलि अपने योगसूत्रों में इस स्थिति को 'योग' कहकर पुकारते हैं और उसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं––'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (११२) अर्थात् 'चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है।' ऐसी अवस्था में मन ब्रह्माकार-वृत्ति में रहता है। पतंजलि की भाषा में––'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (११३) अर्थात 'उस काल में द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।' वैसे तो द्रष्टा आत्मा सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित है, अपने स्वरूप से उसका कभी विचलन नहीं होता, पर चित्त की चंचलता से ऐसा भासित होता है मानो आत्मा में विचलन पैदा हो गया है।

इसे समझाने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। काँच के गिलास में हम जल भरकर उसमें पिन डाल दें और गिलास को हिला दें। इससे जल हिलने लगता है और पिन टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती है। तो क्या पिन सचमुच में टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी? नहीं, वह सीधी की सीधी है, पर जल के कम्पन के कारण वह टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती है। जल के स्थिर होते ही वह जैसी है वैसी ही सीधी दिखाई देती है। तो, जैसे यह पिन कभी टेढ़ी नहीं हुई, टेढ़ी-मेढ़ी भासित होने के काल में भी वह सीधी ही थी, जल के हिलने के कारण वह टेढ़ी-मेढ़ी भासित हो रही थी, वैसे ही यह आत्मतत्त्व सदैव अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, अपने

स्वरूप में कभी भी उसका विचलन नहीं होता, केवल चित्त की चंचलता के कारण ऐसा भासित होता है कि उसके स्वरूप में विचलन आ गया है। आत्मतत्त्व में चलायमानता की जो अनुभूति होती है, वह केवल इसलिए कि हम चित्त-वृत्तियों के माध्यम से उसका अनुभव करते हैं, फलस्वरूप चित्त की चलायमानता से वह भी चलायमान-सा दिखाई देता है। इसी को पंतजलि ने आगे के सूत्र में कहा है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (१।४) अर्थात् '(इस निरोध की अवस्था को छोड़कर) दूसरे समय में द्रष्टा वृत्ति के साथ एकरूप होकर रहता है।'

चित्त की यह जो निवात-निष्कम्प दीपशिखावत् स्थिति है, उसकी प्राप्ति किसे होती है?—योगी को ('योगिनः')। इस योगी का लक्षण क्या है?—उसने अपने चित्त को जीत लिया है ('यतचित्तस्य')। अच्छा, तो जिसने एक बार अपने मन पर विजय पा ली, वह क्या हरदम मन का विजेता बना रहता है?—नहीं, उसे सतत योग का अभ्यास बनाये रखना पड़ता है ('आत्मनः योगं युञ्जतः')। मन का विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि कभी ऐसा अनुभव हुआ कि हमने अब अपने मन को वश में कर लिया है, तो उस अनुभव के बल पर यह सोचने की भूल नहीं करनी चाहिए कि मन हरदम के लिए वश में आ गया है; क्योंकि ऐसा विचार हमारी साधना को शिथिल कर देता है और बाद में हम देखते हैं कि मन हम पर हावी हो गया है।

हिमालय में रहते समय एक साधक की बात स्मरण आती है। वे बड़े निष्ठावान् थे और अध्यवसायपूर्वक अपनी साधना में लगे रहते थे। उन्हें मन की ऐसी स्थिति

प्राप्त हो गयी, जिसमें वह एकदम शान्त हो गया, उसका सारा विचलन समाप्त हो गया। विषयों का आकर्षण उनके लिए नहीं-सा हो गया। कुछ दिनों तक इस स्थिति में रहने पर उन्हें लगा कि अब साधन-भजन की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि साधन-भजन जिसके लिए किया जाता है, वह तो उन्हें प्राप्त हो गया है। पूर्व में वे जो सावधानी बरता करते थे, उसमें शिथिलता आ गयी। उनकी यह स्थिति हम सब लोगों के लिए बड़ी स्पृहणीय थी। हम साधु-ब्रह्मचारी लोग तो उनके पास जाकर सत्संग करते ही, अन्य गृहस्थ लोग भी उनका नाम सुनकर, उनकी उच्च मानसिक अवस्था से आकर्षित हो उनके पास जाने लगे। उनमें महिलाएँ भी होतीं। कुछ समय तक तो ठीक चला, पर तदनन्तर उनमें कुछ विक्षेप दीखने लगा। एक दिन वे मुझसे बोले, "ब्रह्मचारीजी, आजकल चित्त में विचलन पैदा हो गया है। मैंने सोचा था कि काम बन गया है और ऐसा सोच मैंने साधना में ढील दे दी थी। उसी का फल यह लगता है कि मन नीचे उतर आया है। अब मैं इस स्थान का त्याग कर और भी निर्जन और एकान्त में जा रहा हूँ।" मेरा उनसे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। मैंने उनसे कहा कि मैं भी उनके साथ चलूंगा। यह सुन वे बड़े ही हर्षित हुए। मैं उनसे बोला, "आप जब सबसे उन्मुक्त रूप से मिलने लगे और साधनक्रम पर जोर छोड़ दिया, तभी मुझे कुछ खटका लगा था, पर आपकी उच्च अवस्था देख मैंने मन का सन्देह दबा दिया था। मुझे आपकी यह दशा देख श्रीरामकृष्ण और वेदान्ती तोतापुरी का एक वार्तालाप-प्रसंग याद आ गया।" उन्होंने आग्रहपूर्वक वह प्रसंग जानना चाहा।

तोतापुरी श्रीरामकृष्णदेव के वेदान्त-गुरु थे । वे अपनी साधना के बल पर निर्विकल्प समाधि की अनुभूति कर चुके थे, फिर भी उनका साधना का अभ्यास अखण्ड रूप से चलता रहता । एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे पूछा. "आप तो समाधिवान् पुरुष हैं, फिर भी इतनी साधना करते हैं; क्यों ?" तोतापुरी बोले, "इस लोटे को देख रहा है ? देख कैसा चमक रहा है । यह पीतल का है, इसे रोज माँजता हूँ, इसीलिए इतना चमक रहा है । यदि रोज न माँजूँ, तो धीरे-धीरे यह मैला हो जाएगा और इसकी कान्ति फीकी पड़ जाएगी । मन को भी इसी प्रकार ध्यानाभ्यास के द्वारा रोज-रोज माँजना होता है। इससे मन की तेजस्विता बनी रहती है, उसकी समाधिप्रवणता अक्षुण्ण रहती है, अन्यथा वह भी मैला होकर पुन: विक्षेप को प्राप्त हो जाएगा ।"

"यदि लोटा सोने का हो तो ?"—श्रीरामकृष्ण ने जिज्ञासा की ।

तोतापुरी बोले, "अरे बेटे, तब तो रोज माँजने की जरूरत नहीं रहेगी, पर भला किसका मन सोने का बना है ?"

इस वार्तालाप-प्रसंग का तात्पर्य यह है कि हम सबका मन पीतल के समान ही एक भी दिन न माँजने से गन्दा हो जाता है । यदि धूल-गन्दगी से सावधानी न बरती, तब तो वह और भी शीघ्र मैला हो जाता है । इसलिए हमारा मन यदि साधना के फलस्वरूप कभी उच्चावस्था में पहुँच गया प्रतीत हो भी, तो भी हमें साधना में ढील नहीं देनी चाहिए । यही सत्य प्रस्तुत श्लोक में अभिव्यक्त हुआ है, जहाँ पर भगवान् 'योगी' और 'यतचित्त' के लिए 'आत्मन:

योगं युञ्जतः' का विशेषण लगाते हैं। भले ही साधक ने 'योगी' की मनःस्थिति प्राप्त कर ली हो, भले ही वह अपने मन का विजेता बनकर 'यतचित्त' हो गया हो, पर उसे निरन्तर साधना का अभ्यास ('आत्मनः योगं युञ्जतः') बनाये रखना चाहिए।

अब आगे के चार श्लोकों में इस 'योग' की स्थिति के लक्षण बतलाते हैं, जिससे साधक योग के सम्बन्ध में भ्रमित न हो। साधारणतया, योग के सम्बन्ध में बड़ी गलतफहमियाँ रहती हैं। कुछ आसन सीखकर ही कोई योगी का खिताब पा लेता है, तो कोई प्राणायाम की कुछ क्रियाएँ सीखकर ही। पर वस्तुतः योग की वह अवस्था क्या है, यह हमारे लिए अजाना रहता है। शारीरिक क्रियाएँ योग नहीं हैं। योग तो मन की एक अवस्था है। इस अवस्था का चित्रण आगे के चार श्लोकों में किया गया है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६/२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥६/२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६/२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६/२३॥

यत्र (जिस अवस्था में) योगसेवया (योगसेवन के द्वारा) निरुद्धं (निरुद्ध हुआ) चित्तम् (चित्त) उपरमते (उपरामता को प्राप्त होता है) च (और) यत्र (जिस अवस्था में) आत्मना ([ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म] बुद्धि द्वारा) आत्मनि (अपने भीतर) आत्मानं

(अपनी आत्मस्वरूपता को) पश्यन् (देखता हुआ) आत्मनि (अपने आप में) एव (ही) तुष्यति (सन्तुष्ट रहता है)।

"जिस अवस्था में योगसेवन के द्वारा निरुद्ध हुआ चित्त (विषयों से) उपरामता को प्राप्त होता है तथा जिस अवस्था में (ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म) बुद्धि द्वारा अपने भीतर अपनी आत्मस्वरूपता को देखता हुआ अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है—।"

यत्र (जिस अवस्था में) अयं (यह [योगी]) बुद्धिग्राह्यम् ([केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म] बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य) अतीन्द्रियं (इन्द्रियों से परे) यत् (जो) आत्यन्तिकं (आत्यन्तिक) सुखं (आनन्द है) तत् (उसे) वेत्ति (जानता है) च (और) [यत्र] [जिस अवस्था में] स्थितः (स्थित हुआ) तत्त्वतः (अपने स्वरूप से) न (नहीं) एव (ही) चलति (चलायमान होता है)।

"जिस अवस्था में यह (योगी केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म) बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, इन्द्रियों से परे जो आत्यन्तिक आनन्द है उसे जानता है तथा (जिस अवस्था में) स्थित हुआ अपने स्वरूप से तनिक भी चलायमान नहीं होता—।"

यं (जिस [आत्मसाक्षात्कार-रूप लाभ] को) लब्ध्वा (प्राप्त होकर) ततः (उससे) अधिकम् (अधिक) अपरं (दूसरा) लाभं (लाभ) न (नहीं) मन्यते (मानता है) च (और) यस्मिन् (जिस [आत्मस्वरूपता की अवस्था में] स्थितः (स्थित हुआ) गुरुणा (भारी) दुःखेन (दुःख से) अपि (भी) न (नहीं) विचाल्यते (विचलित होता है)।

"जिस (आत्मसाक्षात्कार-रूप लाभ) को प्राप्त होकर (वह योगी) उससे अधिक दूसरा (कुछ भी) लाभ नहीं मानता तथा जिस (आत्मस्वरूपता की अवस्था) में स्थित हुआ (वह) भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता—।"

[यः] [जो] दुःखसंयोगवियोगं (दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है) [च] [और] योगसंज्ञितं (योग के नाम से पुकारा जाता है) तं (उसे) विद्यात् (जानना चाहिए) सः (वह) योगः (योग) अनिर्विण्णचेतसा (बिना उकताये हुए चित्त से) निश्चयेन (निश्चय-पूर्वक) योक्तव्यः (करना कर्तव्य है)।

"(जो) दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है (तथा जिसे) योग के नाम से पुकारा जाता है, उसे जानना चाहिए। वह योग बिना उकताये हुए चित्त से (अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से) निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।"

उपर्युक्त चार श्लोकों में योग में स्थित होने के सात लक्षण बतलाये हैं। वैसे २०वें श्लोक में भी 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है और २३वें में भी। पर दोनों के अर्थ में अन्तर है। २०वें श्लोक में साधना की दृष्टि से उसका प्रयोग हुआ है और २३वें में सिद्धि की दृष्टि से। योग एक साधना-प्रणाली भी है और सिद्धि की अवस्था भी। योग की सिद्धि के ७ लक्षण ये हैं--(१) 'चित्तम् उपरमते'—चित्त उपरामता को प्राप्त होता है; (२) 'आत्मनि एव तुष्यति'—अपने आप में ही सन्तुष्टि का अनुभव होता है; (३) 'आत्यन्तिकं सुखं वेत्ति'—आत्यन्तिक आनन्द को जान लेता है; (४) 'न तत्त्वतः चलति'—अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता; (५) 'न ततः अपरं लाभम् अधिकं मन्यते'—उससे बढ़कर दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता; (६) 'न गुरुणा दुःखेन अपि विचाल्यते'—बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता; तथा (७) 'तं दुःखसंयोग-वियोगं विद्यात्'—उसे यानी योग की उस स्थिति को दुःखरूप संसार के संयोग से रहित जानना चाहिए। आइए, इन लक्षणों की कुछ विस्तार से व्याख्या करें:—

(१) 'चित्तम् उपरमते'—चित्त उपरामता को कैसे प्राप्त होता है?—'योगसेवया निरुद्धं (सत्)'—योग-सेवन से निरुद्ध होकर। योगसेवन का अर्थ है ध्यानयोग का अभ्यास। इस अभ्यास की निरन्तरता से योगी का चित्त संसार से उपरत होकर (हटकर) अपनी आत्म-स्वरूपता में केन्द्रित होता है। या इसे यों भी कह सकते हैं कि ध्यानयोग का अभ्यास साधक के चित्त को आत्मा में (या परमात्मा में) इस प्रकार केन्द्रित कर देता है कि उसकी बाहर जाने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। यही चित्त की सही उपरामता है। उपराम हो जाने का अर्थ है बाहर कहीं जाने की रुचि का नष्ट हो जाना। जैसे हम किसी पक्षी को पिंजड़े में बन्द कर देते हैं। पहले तो वह बहुत फड़फड़ाता है, पिंजड़े को चोंच से काट डालना चाहता है। पर जब वहीं भोजन-पानी मिलने लगता है, तो उसकी बाहर जाने की रुचि धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। फिर तो पिंजड़ा खोल देने पर भी वह बाहर नहीं निकलना चाहता और यदि निकला भी तो पुन: स्वयं होकर पिंजड़े में घुस जाता है। यही उपरामता की स्थिति है। योगसेवन से चित्त निरुद्ध होकर उपराम कैसे हो इसका वर्णन आगे २४ वें से २६ वें श्लोक तक किया गया है।

(२) 'आत्मनि एव तुष्यति'—अपने आप में ही सन्तुष्टि का अनुभव कैसे होता है?—'आत्मना आत्मानं पश्यन्'—बुद्धि द्वारा अपनी आत्मस्वरूपता को देखने से। तो क्या बुद्धि से आत्मा को देखा जा सकता है? श्रुतियाँ तो कहती हैं—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ उप०, १।२।९)—यह आत्ममति तर्क-बुद्धि के द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है; 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः'

(केन उप०, १।२)—उस ब्रह्मतत्त्व तक न नेत्र जाते हैं, न वाणी, न मन; 'यन्मनसा न मनुते' (केन उप०, १।५)—जिस आत्मतत्त्व का मन से मनन नहीं किया जाता; तो ऐसे आत्मतत्त्व को जो 'अवाङ्मनसगोचर' कहा गया है, जिसे गीता ने 'बुद्धेः परम्' (३।४३)—बुद्धि से भी परे—बतलाया है, बुद्धि के द्वारा कैसे जान सकते हैं? इसके उत्तर में श्रुतियाँ ही कहती हैं कि भले ही यह आत्मतत्त्व सामान्य मन या बुद्धि से नहीं जाना जाता, पर जो मन योगसेवन से शुद्ध हो गया है, जो बुद्धि योगाभ्यास से पवित्र और एकाग्र हो गयी है, ऐसे मन और ऐसी बुद्धि से यह आत्मतत्त्व देखा जाता है। कहा भी है—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृह० उप०, ४।४।१९)—मन के द्वारा ही उस आत्मा को देखना चाहिए; 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ उप०, १।३।१२)—यह आत्मतत्त्व सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है; आदि। इस प्रकार साधक साधना से अपने मन-बुद्धि को शुद्ध और एकाग्र कर उस आत्मतत्त्व को देखने में समर्थ होता है। फल यह होता है कि उसके लिए और कुछ देखने, पाने, जानने की वस्तु नहीं रह जाती। वह अपनी आत्मस्वरूपता में ही पूरी तरह डूबकर सन्तुष्ट रहता है।

(३) 'आत्यन्तिकं सुखं वेत्ति'—यह कहकर यह सूचित किया कि जिस योग की चरम स्थिति का यहाँ पर वर्णन किया जा रहा है, वह हठयोग की चरम स्थिति से भिन्न है। हठयोग की समाधि में जड़ता होती है, उसमें आनन्द का लेश नहीं रहता है। महर्षि पतंजलि ने भी जिस समाधि को लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया है, उसमें भी

सुख (आनन्द) की संवेदना का नितान्त अभाव है। पर गीतोक्त इस स्थिति में साधक 'आत्यन्तिक' आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा कहकर यह प्रदर्शित किया कि यह अत्यन्त लोभनीय स्थिति है। मनुष्य तो जीवन में सुख ही चाहता है। उसकी समस्त क्रियाओं के मूल में सुख-प्राप्ति की ही भावना होती है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' कहता है—'यदा वै सुखं लभते अथ करोति, न असुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति' (७।२२।१)—जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, तभी वह करता है; बिना सुख मिले कोई नहीं करता, अपितु सुख पाकर अर्थात् पाने की आशा रखकर ही करता है। अतएव यहाँ पर बतला रहे हैं कि सुख ही पाना है तो संसार के अल्प सुखों के पीछे क्यों दौड़ते हो, यहाँ आओ योग की इस स्थिति को पाने के लिए प्रयत्नशील बनो। इसमें आत्यन्तिक सुख है, यह 'भूमा' सुख है, इससे बढ़कर सुख संसार में और कहीं नहीं है। संसार के सुख क्षरणशील हैं, अभी हैं और थोड़ी देर बाद नहीं रहते, पर यह अक्षय सुख है।

यहाँ पर इस सुख के साथ दो विशेषण और लगाये गये हैं—'अतीन्द्रियम्' और 'बुद्धिग्राह्यम्'। इस प्रकार योग की इस चरम स्थिति में जिस सुख (आनन्द) का अनुभव होता है, वह 'आत्यन्तिक' है, 'इन्द्रियातीत' है तथा 'बुद्धिग्राह्य' है। 'आत्यन्तिक' और 'इन्द्रियातीत' विशेषण इस सुख को सांसारिक सुख से अलग करने के लिए लगाये गये हैं। संसार के सुख या तो सात्त्विक होते हैं, या राजसिक, या फिर तामसिक। राजसिक और तामसिक सुख इन्द्रियों द्वारा भोगे जाते हैं। अतः 'अतीन्द्रिय' कहकर इस सुख को राजस और तामस सुखों से अलग कर दिया।

सात्त्विक सुख बुद्धिग्राह्य होता है और इस सुख को भी बुद्धिग्राह्य कहा है। तो क्या योग की चरम स्थिति का यह सुख सात्त्विक है? नहीं, उससे भी ऊँचा है—यह बतलाने के लिए 'आत्यन्तिक' विशेषण लगाया। सात्त्विक सुख भी अन्ततोगत्वा कुछ समय पश्चात् नहीं रहता, पर यह सुख तो हरदम बना रहता है। ध्यानजन्य सुख भी मात्र ध्यान-काल में बना रहता है, वह सदा एकरस नहीं रहता, वह भी चित्त की एक अवस्थाविशेष ही होता है। पर यह सुख अक्षय और एकरस होता है।

'बुद्धिग्राह्य' विशेषण इसलिए भी लगाया कि कहीं 'अतीन्द्रिय' विशेषण देखकर साधक ऐसा न सोचे कि जब योग का यह सुख इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला है नहीं, तो इसके पीछे भागकर क्या लाभ? इस संशय को दूर करने के लिए कहते हैं कि भले ही यह सुख इन्द्रियों का विषय नहीं है, पर शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य है। अतः संशय-सन्देह को त्याग इसकी प्राप्ति के लिए चेष्टाशील होना चाहिए।

(४) 'न तत्त्वतः चलति'—इस स्थिति में पहुँच जाने पर फिर वहाँ से चलायमान नहीं होता। आत्यन्तिक सुख की बात पढ़कर मन में यह संशय उठ सकता है कि भले ही कठोर साधना के फलस्वरूप इस स्थिति को प्राप्त कर लिया, पर कुछ समय पश्चात् वह स्थिति यदि छूट गयी, तो परिश्रम व्यर्थ हो गया। इस संशय को दूर करने के लिए कहते हैं कि एक बार उस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर फिर वहाँ से च्युति नहीं है।

(५) 'न ततः अपरं लाभम् अधिकं मन्यते'—इस स्थिति से बढ़कर दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता। ठीक

है, मैंने वह आत्यन्तिक सुख की स्थिति प्राप्त कर ली और यह भी जान लिया कि उस अवस्था से विच्युति नहीं है। पर यह भी तो हो सकता है कि मुझे ऐसे किसी दूसरे लाभ का पता चले, जो इस स्थिति से बढ़कर हो। ऐसी दशा में मेरा मन इस अधिक लाभवाली स्थिति को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो जाएगा और उसमें इसके फलस्वरूप विचलन की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। इस संशय को निर्मूल करने के लिए कहते हैं कि उससे अधिक लाभ की कोई अवस्था ही नहीं है। उस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर साधक देखता है कि उससे बढ़कर और कोई स्थिति है ही नहीं।

(६) 'न गुरुणा दुःखेन अपि विचाल्यते'—उस अवस्था में पहुँच जाने पर भारी से भारी दुःख भी उसे विचलित नहीं कर पाता। सामान्यतया विचलन के दो ही कारण होते हैं—एक तो यह कि प्राप्त सुख से अधिक सुख पाने की स्वाभाविक चाह जीवमात्र में होती है और दूसरा यह कि प्राप्त सुख में भय-दुःख आदि की बाधा देखकर मनुष्य उसे छोड़ना चाह सकता है। पहला कारण तो यह कहकर दूर कर दिया गया कि इससे बढ़कर सुख की स्थिति दूसरी कोई नहीं है। दूसरे कारण को दूर करने के लिए कहते हैं कि इस स्थिति का सुख इतना अत्यन्त है कि गुरुतर दुःखों को भी वह तुच्छ मानता है और उनसे विचलित नहीं होता। एक लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसे यों समझें। जैसे एक व्यक्ति देश का प्रधानमंत्री है। उसके सामने भले ही भारी से भारी दुःख आवे, पर अपने पद के सुख की तुलना में वह ऐसे भारी दुःखों को भी तुच्छ समझता है। फिर जब कोई व्यक्ति प्रधानमंत्री के पद के सुख से भी

बढ़कर आत्म-सुख की स्थिति में पहुँच जाए तो ऐसे भारी दुःख भी उसके लिए तुच्छ हो जाएँगे यह कहने की आवश्यकता नहीं है ।

(७) 'तं दुःखसंयोगवियोगं विद्यात्'—यह जो 'योग' कहकर जाना जाता है, वह दुःख के संयोग से वियोग की स्थिति है। ऐसा कहकर यह प्रदर्शित किया जा रहा है कि संसार तो दुःखमय ही है। इसलिए संसार में आना ही दुःख-संयोग है। योग इस दुःख-संयोग से हमें अलग कर देता है। यह प्रौढ़िवाद द्वारा, विपरीत लक्षण द्वारा योग का निर्वचन है। योग की ऐसी स्थिति को प्राप्त करने का तात्पर्य ही है दुःखों से वियुक्त हो जाना, ऊपर उठ जाना।

ऐसे योग को प्राप्त होने के लिए साधक को चाहिए कि वह बिना उकताये हुए चित्त से ('अनिर्विण्णचेतसा') धैर्य, अध्यवसाय और उत्साह के साथ उसकी सिद्धि में ऐसा निश्चय करते हुए लग जाय कि 'यह स्थिति मुझे प्राप्त होगी ही' और 'इसे पाना ही मेरा एकमेव कर्तव्य है' तथा 'इसे पाकर ही मैं दम लूँगा'। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "मान लो किसी चोर को पता लग गया कि बाजू के कमरे में सोना है, तो जब तक उसे सोना नहीं मिल जाता तब तक क्या वह चैन से बैठ सकता है? इसी प्रकार यदि किसी को विश्वास हो जाय कि ईश्वर हैं और वे अतुल सुख की खान हैं, तो क्या व्यक्ति उन्हें पाये बिना चैन से रह सकता है?" बस, यही 'अनिर्विण्णचेतस्' का लक्षण है। जहाँ संशय है, वहाँ व्यक्ति उकता सकता है, धैर्य खो सकता है। कुआँ खोदते हुए यदि पानी न मिले तो भले ही जल को प्राप्त करना उसके लिए जीने-मरने की समस्या हो, फिर भी उसे संशय हो सकता है कि इतना तो खोदा,

पर पानी नहीं मिला, पानी मिलेगा भी या नहीं, और ऐसा सोच वह हतोत्साहित हो सकता है, धीरज खोकर खोदने का काम बन्द कर दे सकता है। पर यदि किसी भू-वैज्ञानिक ने बता दिया कि यहाँ पानी है, खोदो, जरूर मिलेगा, तब तो फिर प्रयत्न के साथ विश्वास और उत्साह जुड़ जाता है तथा न पाने के संशय से उपजी उकताहट दूर हो जाती है। इसीलिए कहा जा रहा है कि साधक को बिना किसी ऊब के, अपनी कर्तव्यता मानते हुए, निश्चयपूर्वक इस योग की प्राप्ति में लग जाना चाहिए। आत्मसाधना में ऊब का दूर हो जाना और दृढ़ निश्चयपूर्वक लग जाना—यही ध्यानयोग का प्रसाद है।

○

माँ के सान्निध्य में (१३)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं। —स०)

उद्‌बोधन : सुबह

मैंने कहा, "माँ, मेरा तो जप करने में मन नहीं लगता।"

माँ ने हँसकर कहा, "क्यों, जरा भी नहीं?"

मैं—बस थोड़ा-बहुत होता है—बेगारटाल जैसा। थोड़ा करके ही सोचने लगता हूँ, इस तरह मन्त्र बुद-बुदाने से क्या होगा? ईश्वर यदि हैं तो रहेंगे ही। पर ध्यान करने की कोशिश करता हूँ।

माँ—ध्यान होता है?

मैं—नहीं, होता कहाँ है? सब तो समझता हूँ, पर शक्ति कहाँ? दक्षिणेश्वर किस रास्ते से जाना होगा यह भले मालूम हो, पर क्या पैदल चलकर वहाँ व्यक्ति जा सकता है यह प्रश्न है।

माँ—जप बड़बड़ाना औरतों का काम है, तुम लोगों के लिए ज्ञान है।

शाम को ललितबाबू प्रणाम करने आये हैं। उनके साथ बातचीत हो रही है। मैं भी बीच बीच में बोल रहा हूँ।

माँ कह रही हैं, "ठाकुर कहते थे, 'मार्ग मानो छुरे की धार के समान है, रास्ता बहुत कठिन है।'" यह कहकर कुछ देर बाद पुनः कहने लगीं, "वे ही

गोद में लिये हुए हैं, वे ही देख रहे हैं।"

मैं—कहाँ, वे कुछ भी तो जानने नहीं देते।

माँ—वही तो दुःख है (तुम लोगों के लिए)।

मैं—हाँ।

ललितबाबू—मरने के बाद ठाकुर गोद में लेंगे, यह कौन सी बड़ी बात है? यदि शरीर के रहते लेते, तो कोई बात थी।

माँ—इस शरीर को तो गोद में ही रखा है। वे सिर के ऊपर विद्यमान हैं, ठीक पकड़े हुए हैं।

मैं—हम लोगों को ठीक पकड़ रखा है?

माँ—हाँ, ठीक पकड़ रखा है।

मैं—सच कह रही हो?

माँ—हाँ, सच कह रही हूँ, उन्होंने ठीक पकड़ रखा है।

मैं—सच?

माँ—(दृढ़ भाव से) हाँ, सच।

सुबह की पूजा समाप्त कर माँ ने शाल के पत्ते में भक्तों को प्रसाद दिया। उसके बाद घर को झाड़-बुहारकर कचरा हाथ में उठाते समय एक आलपीन अचानक उनकी उंगली में गड़ गयी। उससे खून निकलने लगा और बहुत पीड़ा होने लगी। मैंने नीचे खबर सुनी, दौड़ते हुए आकर देखा कि सचमुच उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा है। आते समय किसी ने कहा, "चूना गरम करके लगाओ।" मैंने तुरत चूना गरम किया और उसे ऊपर ले जाकर माँ की उँगली में लगा दिया। लगाते ही पीड़ा एकदम कम हो गयी। माँ बोलीं, "बेटा, तुम लोग ही मेरे अपने लोग हो, तुम लोग ही मेरे अपने हो।"

१६-८-१९१२ (सायंकाल ५ बजे)

माँ—मैं तेरह वर्ष की आयु में कामारपुकुर गयी। तब ठाकुर दक्षिणेश्वर में थे। एक माह कामारपुकुर में बिता मैं जयरामवाटी लौटी। फिर पाँच-छः महीने बाद कामारपुकुर जाकर वहाँ प्रायः डेढ़ महीने रही। ठाकुर तब भी दक्षिणेश्वर में थे। कामारपुकुर में मेरे जेठ, जिठानी ये सब लोग थे। बाद में ठाकुर जब ब्राह्मणी* को लेकर गाँव आये (सन् १८६७ में) तो मुझे खबर भिजवायी, 'ब्राह्मणी आयी हैं, तुम आओ।' मैं खबर पाकर कामारपुकुर पहुँची। उस समय करीब तीन महीने वहाँ रही। ब्राह्मणी माता ने जयरामवाटी, शिहड़ आदि सब घूम-फिरकर देखा। एक दिन चीनू शाखारी के जूठन को लेकर हृदय के साथ उनका झगड़ा हुआ।

मैं—चीनू क्या तब जीवित थे ?

माँ—हाँ, जीवित थे, पर बहुत बूढ़े और कमजोर हो गये थे।

मैं—किसी किसी पुस्तक में लिखा है कि चीनू शाखारी ठाकुर के बचपन में ही चल बसे थे। †

माँ—वे बहुत दिन बाद दिवंगत हुए। वहाँ उनका समाज है जो उन्हें मानता है।

"ब्राह्मणी ने कहा, 'चीनू भक्त है, उसका जूठन उठाने में भला क्या हानि है?' हृदय ने कहा, तुम शाखारी का जूठन उठाओगी तो रहोगी कहाँ ? और सोओगी कहाँ ?' ब्राह्मणी ने कहा, 'क्यों ? शीतला

---

* भैरवी ब्राह्मणी।

† 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि', पृ. २४।

के कमरे में मनसा सोएगी ।'

"हृदय बोला, 'मैं देखता हूँ कि कैसे शीतला के घर में मनसा सोती है ?' यही सब लेकर हृदय के साथ उनका झगड़ा और मारपीट हुई । हृदय ने पता नहीं क्या फेंककर मारा कि उनके कान पर लगने से खून बहने लगा । ब्राह्मणी रोने लगी । ठाकुर ने कहा, 'अरे हृदू, तूने ऐसा क्यों किया ? वह साध्वी है, भक्तिमती है । अरे, ऐसा होने से लोग जमा होंगे, बड़ी बदनामी होगी ।'

"उसके बाद एक दिन ठाकुर ने उन्हें (ब्राह्मणी को) न जाने कैसे डरा दिया । उनकी न जाने कैसी भावावस्था देख वे हरिणी की भाँति भयभीत हो गयीं । भय से सब समय ऐसी (ऊपर की ओर देखकर) करने लगीं । कहने लगीं, 'अरी प्रसन्न (लाहा की प्रसन्नमयी),मैं कहाँ जाऊँ? अरी, मैं क्या करूँ ? जगन्नाथ जाऊँ या वृन्दावन?' और एक दिन वे कब कहाँ चली गयीं किसी को खबर तक नहीं लगी । उसके बाद फिर आयीं नहीं । हृदय के साथ बाद में झगड़ा न हो, लाहा लोगों का घर पास में है---इन्हीं सब कारणों से लगता है ठाकुर ने उन्हें भय दिखाया था ।

"एक दिन ब्राह्मणी ने ठाकुर को माला आदि से चैतन्य-देव की भाँति सजाया था । तब ठाकुर को एक प्रकार की भावावस्था हुई थी । ब्राह्मणी माता ने मुझे बुलवाया । जाते ही ठाकुर ने मुझसे पूछा, 'क्यों, कैसा हुआ है ?' मैंने कहा, 'अच्छा हुआ है,' ऐसा किसी तरह बोलकर मैं प्रणाम करके तुरन्त चली आयी । भावावेश देखकर मुझे डर लगा था ।

"इसके बाद मैं फिर जयरामवाटी लौट आयी । बहुत से लोगों से तरह-तरह की बातें सुनती कि वे पागल हो गये

हैं, उन्मादावस्था में हैं, नंगे घूमते रहते हैं, आदि। तब कोई भी उनका भाव समझ नहीं पाता था। मैंने मन में सोचा कि जब सभी ऐसा कहते हैं तो एक बार जाकर देख आऊँ कि वे कैसे हैं। उस समय किसी पर्व के अवसर पर हमारे गाँव की स्त्रियाँ गंगास्नान के लिए कलकत्ता जा रही थीं। मैंने एक से कहा, 'मैं उन्हें देखने दक्षिणेश्वर जाऊँगी कि वे कैसे हैं।' उसने पिताजी से जाकर सब कहा। मैं तो पिताजी से लज्जा और डर के कारण कुछ बोल नहीं पायी।

"पिताजी ने कहा, 'वह जाएगी, अच्छा तो है।' वे हम लोगों के साथ आये। रास्ते में मुझे बुखार हो आया। जोर का बुखार, कोई होश न रहा। रात में सपने में देखती हूँ कि एक अत्यन्त काली लड़की मेरे बिस्तर के पास बैठी मेरे सिर पर हाथ फेर रही है। उसने कहा, 'मैं दक्षिणेश्वर से आ रही हूँ।' मैंने कहा, 'मैं भी उनके पास जाऊँगी। तुम हमारी क्या लगती हो?' उसने कहा, 'मैं तुम्हारी बहिन हूँ। डर की कोई बात नहीं है। तुम ठीक हो जाओगी।'

"दूसरे दिन ही बुखार छूट गया। पिताजी ने पालकी का प्रबन्ध कर दिया। हम लोग रात को ९ बजे दक्षिणेश्वर पहुँचे। मैं सीधे ठाकुर के कमरे में ही जा पहुँची। ये लोग नौबतखाने में जहाँ ठाकुर की माँ थीं वहाँ गये। ठाकुर ने मुझे देखकर कहा, 'तुम आयी हो! अच्छा किया।' किसी से फिर कहा, 'अरे, चटाई बिछा दे।' कमरे में ही चटाई बिछा दी गयी। ठाकुर बोले, 'अब क्या मेरा मेजो बाबू* है? मेरा दाहिना हाथ ही टूट गया।' कई महीने पहले मथुरबाबू की मृत्यु हो गयी थी। अक्षय (ठाकुर का

* मथुरानाथ विश्वास, रानी रासमणि के दामाद।

भतीजा) भी उसके कुछ महीने पहले चल बसा था।"

मैं—मथुरबाबू तब नहीं थे?

माँ—नहीं, कई महीने—७-८ महीने पहले उनकी मृत्यु हो चुकी थी। मथुरबाबू के रहते क्या मुझे उस तंग कमरे (नौबतखाने) में रहना पड़ता? शौच जाने की कितनी तकलीफ! वे तो अट्टालिका में रखते। मैंने नौबतखाने में जाना चाहा। ठाकुर ने कहा, 'न, न, वहाँ डाक्टर को दिखाने में असुविधा होगी। तुम इसी कमरे में रहो।' हम लोग उनके कमरे में ही सोये। साथ की एक लड़की मेरे पास सोयी। हृदय ने दो-तीन पायली मुरमुरा ला दिया। तब तक सबका खाना खतम हो चुका था।

"दूसरे दिन मुझे डाक्टर को दिखाया गया। कुछ दिन बाद बुखार छूट जाने पर मैं नौबतखाने में चली आयी। तब मेरी सास कोठी को छोड़ नौबतखाने में आ गयी थीं। कोठी का एक कमरा उन्हें दिया गया था। अक्षय की मृत्यु उनके उसी कमरे में हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद माताजी ने कोठी को त्याग दिया। उन्होंने कहा, 'अब मैं वहाँ नहीं रहूँगी। इसी नौबतखाने में रहूँगी। गंगा की ओर मुँह करके रहूँगी। मुझे कोठी की और कोई आवश्यकता नहीं।'

"दक्षिणेश्वर में डेढ़ महीने रहने के बाद ही ठाकुर ने षोड़शी पूजा की (सम्भवतया फलहारिणी कालीपूजा, जून १८७२ में)। मैंने तब १६वें साल में पैर रखा था।* रात को करीब ९ बजे उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलवाया। पूजा की सारी व्यवस्था की गयी थी। भानजे ने सारी व्यवस्था की थी। ठाकुर ने मुझसे बैठने को कहा। मैं उनके

* यथार्थ में १९वें वर्ष में।

आसन के उत्तरी भाग में, जहाँ गंगाजल का मटका था, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठी। ठाकुर पश्चिमी दरवाजे के पास पूर्व की ओर मुँह करके बैठे। दरवाजे सब बन्द थे। मेरे दाहिनी ओर पूजा की सब सामग्री थी।"

मैं—पूजा के समय उन्होंने क्या किया?

माँ—मैं कुछ देर बाद ही बेहोश हो गयी। पूजा के बीच क्या हुआ, कुछ जान नहीं पायी।*

मैं—चेतना आने पर तुमने क्या किया?

माँ—मैंने मन ही मन प्रणाम किया और चली आयी।

मैं—कालीपूजा की रात थी, वहाँ इतने लोग रहे होंगे, पर किसी को इस पूजा की खबर नहीं लगी?

माँ—दरवाजे सब बन्द जो थे। कालीबाड़ी में गाना-बजाना, शोरगुल हो रहा था। सभी उसी में मशगूल थे। फिर उनके साथ और लोगों का सम्पर्क ही भला कितना था? केवल दर्शन-स्पर्शन को छोड़ और कुछ नहीं।

मैं—पूजा के समय और कोई था?

---

* लक्ष्मी दीदी के मुँह से सुना था कि माँ ने उनसे कहा था, "पूजा के पहले उन्होंने पैर में अलता लगाया, माथे पर सिन्दूर दिया और कपड़ा पहनाया। पान और मिठाई खिलायी।" लक्ष्मी दीदी ने हँसते हँसते पूछा, "तुम तो इतनी शरमाती हो—तुम्हें कपड़ा कैसे पहनाया री?" माँ ने कहा, "तब मैं न जाने कैसी हो गयी थी।"

माँ ने ज्ञानानन्द को भी यही घटना बतायी थी। उसने पूछा था, "माँ, जब ठाकुर ने फूल देते समय आपके पैरों में हाथ लगाया, मिठाई खिलायी, तब आपको संकोच का अनुभव नहीं हुआ?" माँ ने कहा, "नहीं, मैं भले ही तब सब देख रही थी, पर मुझे कुछ कहने-बोलने की इच्छा नहीं हुई।"

माँ—दीन नाम का लड़का था जो रिश्ते में जेठ का लड़का होता है। वह मुकुन्दपुर के ज्ञाति का लड़का था, ठाकुर के पास रहता था। वे उसे बहुत प्यार करते। वही फूल, बेलपत्ते आदि लाकर देने लगा। हृदय ने सारी व्यवस्था कर दी थी। पूजा के समय और कोई नहीं था। अकेले केवल वे ही थे। पूजा के अन्तिम समय में हृदय पहुँचा था।

"रामबाबू ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जयरामवाटी में षोड़शी पूजा हुई थी। हमारे गाँव में वैसे भी मुश्किल है। वैसे ही बोलते रहते हैं—किसको लड़की दे दी, एक पगले, उन्माद को। और फिर स्त्री-जात की पूजा करने की बात सुन वे क्या न बोलेंगे?

"इसके बाद दक्षिणेश्वर में प्रायः एक वर्ष तक रही। वर्ष के अन्त में बीमार पड़ने पर फिर गाँव को गयी। शम्भूबाबू (शम्भूनाथ मल्लिक) ने डाक्टर प्रसादबाबू से दक्षिणेश्वर में मेरी चिकित्सा करवायी थी।"

मैं—ठाकुर की माँ के देहत्याग (२७ फरवरी, १८७५) के समय क्या तुम दक्षिणेश्वर में थीं?

माँ—नहीं, मैं जयरामवाटी में थी। तब मैं बीमार थी। दक्षिणेश्वर में एक साल भुगतकर गाँव गयी थी। बदनगंज के बाजार के शिवमन्दिर में मैंने प्लीहा की बीमारी के लिए दाग लगवाया था।*

* बदनगंज जयरामवाटी से करीब ४ मील दूर है। दागने की प्रथा उस जमाने में अत्यन्त कष्टकर थी। रोगी को नहलाकर फिर लिटाकर तीन-चार लोग हाथ-पैर दबाकर रखते, जिससे वह यन्त्रणा से उठकर भाग न जाय। इसके बाद एक आदमी बेर की जलती हुई लकड़ी

"मैं दो या तीन बार दक्षिणेश्वर आने के पश्चात् कप्तान (विश्वनाथ उपाध्याय) ने साल की लकड़ी दी, जिससे शम्भूबाबू ने जहाँ अभी रामलाल का मकान है, उसके पास मेरे लिए एक घर बनवाया। गंगा के ज्वार में एक लट्ठा पानी में बह गया था। हृदय आकर भला-बुरा कहने लगा, 'तुम्हारा भाग्य खोटा है,' इत्यादि। इस पर कप्तान ने कहा, 'जो भी लकड़ी लगेगी, मैं दूँगा।' उस घर में मैं कुछ दिन रही। बरसात में एक दिन ठाकुर वहाँ गये। रात में ऐसी वर्षा हुई कि ठाकुर लौट नहीं पाये। वहीं खा-पीकर सो रहे। मुझसे मजाक में कहने लगे, 'कालीमन्दिर के पुजारी जैसे रात में घर जाते हैं, मैं भी वैसे ही आया हूँ।'

"बाद में काशी की एक वृद्धा महिला मुझे वहाँ से बुलाकर नौबतखाने में ले आयी। तब ठाकुर बीमार थे। उनकी सेवा में कष्ट हो रहा था। बार-बार शौच को जाने के कारण मलद्वार सूज गया था। मैं आकर सेवा में लग गयी।

"काशी पहुँचने पर मैंने उस महिला की बहुत खोज की थी, पर उससे भेंट नहीं हुई।* इसके बाद मैं (चौथी

लेकर उसे पेट में प्लीहे के स्थान पर कई जगह घिसता। उस समय चमड़ा जलने से रोगी चिल्लाता। माँ जब स्नान करके आयी और लोग दागने के लिए उन्हें पकड़ने लगे तो उन्होंने कहा, "नहीं, किसी को मुझे पकड़ने की जरूरत नहीं। मैं स्वयं ही चुपचाप पड़ी रहूँगी।" और वास्तव में उन्होंने वह असह्य यन्त्रणा स्थिर भाव से सहन कर लिया। उस क्षेत्र के लोगों का विश्वास था कि इससे मलेरिया ज्वर ठीक होता है। ठाकुर ने भी एक बार यह इलाज करवाया था।

* योगीन-माँ से सुना था कि माँ पहले ठाकुर के पास बहुत सकोच

बार) माँ, लक्ष्मी तथा और भी कुछ लोग दक्षिणेश्वर आये। पिछली बीमारी में मैंने तारकेश्वर में नख, केश आदि की मानत बदी थी, उसे पूरा करके आयी। प्रसन्न के साथ में रहने के कारण हम लोग पहले उसके कलकत्ते के मकान (गिरीश विद्यारत्न के मकान) में ठहरे। वह शायद मार्च १८८१ का महीना था। दूसरे दिन सब दक्षिणेश्वर गये। जाते ही हृदय ने न जाने क्या सोचकर बोलना शुरू किया, 'तुम लोग क्यों आयी हो? किस काम से आयी हो? यहाँ क्या रखा है?'—यह सब कहकर अपमानित करने लगा। मेरी माँ ने उसकी बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। हृदय शिहड़ का था और मेरी माँ भी शिहड़ की थीं। इसलिए हृदय ने मेरी माँ का जरा भी लिहाज नहीं किया। माँ ने कहा, 'चलो, गाँव लौट चलें। यहाँ लड़की को भला किसके पास छोड़ूँ?' ठाकुर ने हृदय के डर से शुरू से आखिर तक 'हाँ' 'ना' कुछ भी नहीं कहा। हम लोग उसी दिन लौट गयीं। रामलाल ने पार जाने के लिए एक नाव बुला दी। मैंने मन ही मन माँ-काली से कहा, 'माँ, यदि किसी दिन बुलवाओगी तभी आऊँगी।' उसके बाद हृदय को त्रैलोक्यबाबू की लड़की के पैरों में फूल चढ़ाने के कारण (जून १८८१) कालीमन्दिर छोड़ना

का अनुभव करतीं। मुख से घूँघट नहीं हटाती थीं। काशी की उस महिला ने इस संकोच को दूर कर दिया। एक दिन वह रात में माँ को लेकर ठाकुर के कमरे में आयी और माँ के मुँह पर का घूँघट उठाकर दूर कर दिया। ठाकुर भी माँ को कितने ही भगवत्प्रसंग सुनाने लगे। माँ और वह महिला बाह्यज्ञान से शून्य होकर वह सब प्रसंग सुनती रहीं। वे लोग इतनी तन्मय हो गयी थीं कि इधर कब सूर्योदय हो गया इसका भी उन्हें भान न रहा।

पड़ा ।* रामलाल कालीमन्दिर का (स्थायी) पुजारी नियुक्त हुआ । पुजारी होकर उसने सोचा, 'अब क्या है, मैं तो अब कालीमन्दिर का पुजारी हो गया हूँ ।' उसने ठाकुर की खोज-खबर लेना छोड़ दिया । वे भाव आदि होने से यों ही पड़े रहते । इधर माँ-काली का प्रसाद पड़े-पड़े सूख जाता । ठाकुर के खाने-पीने में भी कष्ट होने लगा । तब दूसरा और कोई नहीं था । ठाकुर बार-बार मुझे आने के लिए बुलावा भेजने लगे । गाँव का जो भी आता, उसके द्वारा आने के लिए खबर भिजवाते । कामारपुकुर के लक्ष्मण पाइन के हाथ उन्होंने खबर भिजवायी, 'मुझे यहाँ कष्ट हो रहा है, रामलाल माँ-काली का पुजारी होकर ब्राह्मणों के दल में जा मिला है । अब मेरी अधिक खोज-खबर नहीं लेता । तुम अवश्य आना । डोली में हो या पालकी में, चाहे दस रुपये लगें या बीस, मैं दूंगा ।' ठाकुर का यह बुलावा पाकर मैं आखिर (फरवरी या मार्च १८८२ को) दक्षिणेश्वर पहुँची । पूरे एक साल के बाद आयी ।" †

---

* छोटी कुमारी ब्राह्मण-कन्याओं को जगन्माता के प्रतीक के रूप में पूजने की प्रथा प्रचलित है । अब्राह्मण त्रैलोक्य को भय हुआ कि कहीं एक ब्राह्मण द्वारा उनकी पुत्री के पूजन से अकल्याण न हो, इसलिए उन्होंने हृदय को कालीमन्दिर के पुजारी-पद से तत्काल ही निकाल दिया और चेतावनी दे दी कि वह कभी भी मन्दिर के अहाते में पैर न रखे ।

† इसके बाद जब माँ गाँव गयीं, तो उसके ७-८ महीने बाद दक्षिणेश्वर लौटीं । आकर ठाकुर के कमरे में कपड़े की पोटली रख उन्हें प्रणाम करते ही ठाकुर ने पूछा, "कब रवाना हुई हो ?" जब

मैं—रासमणि ने जब देह छोड़ी, तब ठाकुर कहाँ थे?

माँ—तब ठाकुर दक्षिणेश्वर में ही थे। उनके तथा और लोगों के मुँह से सुना है कि रानी रासमणि के देहत्याग के समय कालीघाट में माँ-काली के मन्दिर की सारी ज्योति हवा के एक झोंके से बुझ गयी। तब माँ ने रासमणि को दर्शन दिया। उनके सभी सम्बन्धी कालीघाट के निवास-स्थान में दिवंगत हुए। केवल मथुरबाबू की मृत्यु जान-बाजार में हुई।

○

ठाकुर ने जाना कि वे बृहस्पतिवार को बारबेला (अशुभ मुहूर्त) में रवाना हुई हैं, तो उन्होंने तुरन्त कहा, "तुम बृहस्पतिवार को बार-बेला में रवाना हुई इसीलिए मेरा यह हाथ टूटा। जाओ, जाओ, यात्रा बदलकर आना।" माँ उसी दिन लौटकर जा रही थीं। ठाकुर ने कहा, "आज रुक जाओ, कल जाना।" दूसरे दिन ही माँ यात्रा परिवर्तित कर आने के लिए गाँव वापस चली गयीं।

माँ सारदा को प्रणाम

रवीन्द्र नाथ गुरु

सम्मोहशोकार्ति विनाशयित्रीं
विवेक-वैराग्यविवर्धयित्रीम्।
स्वर्गापवर्गादिविधानदक्षां
तां सारदाम्बां शिरसा नमामि।

—मोह, शोक और आर्ति का विनाश करनेवाली विवेक एवं वैराग्य को बढ़ानेवाली तथा स्वर्ग और अपवर्गादि प्रदान करने में निपुण उन माँ सारदा देवी को मैं नतमस्तक हो प्रणाम करता हूँ।

○

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (मध्यप्रदेश)

द्वारा संचालित

विवेकानन्द विद्यापीठ, नारायणपुर (बस्तर)

(आदिवासी बालकों का आवासीय विद्यालय)

का अनूठा कीर्तिमान

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की यह नारायणपुर शाखा २ अगस्त १९८५ को स्थापित हुई और उसकी शैक्षणिक इकाई "विवेकानन्द विद्यापीठ" के नाम से २ जुलाई १९८६ को शुरू की गयी। "विद्यापीठ" आदिवासी बालकों का एक आवासीय विद्यालय है, जिसमें प्रारम्भ में प्राथमिक की पहली से चौथी तक की चार कक्षायें आरम्भ की गयीं। इस वर्ष 7 बालकों की पहली टोली ने शिक्षा जिला कांकेर द्वारा आयोजित प्राथमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा में भाग लिया। और यह अत्यन्त गर्व का विषय है कि सातों बालकों ने प्रावीण्य-सूची में निम्नलिखित स्थान प्राप्त किये--पहला, दूसरा, तीसरा (दो बालक), चौथा (दो बालक) तथा सातवाँ। हमारे विद्यार्थी मोहनलाल ने न केवल शिक्षा जिला कांकेर में पहला स्थान प्राप्त किया है, बल्कि उसने समूचे बस्तर सम्भाग, जिसके अन्तर्गत कांकेर और जगदलपुर ऐसे दो शिक्षा जिला हैं, में भी प्रथम स्थान पर अधिकार जमाया है। इन सातों बालकों में ६ इसी क्षेत्र के आदिवासी हैं। सम्भवतः यह पहला ही मौका है जब किसी आदिवासी छात्र ने समूचे बस्तर सम्भाग में प्राथमिक प्रमाणपत्र परीक्षा में पहला स्थान प्राप्त किया हो। इस सम्भाग से कुल १९,१७३ विद्यार्थी इस परीक्षा में बैठे थे।
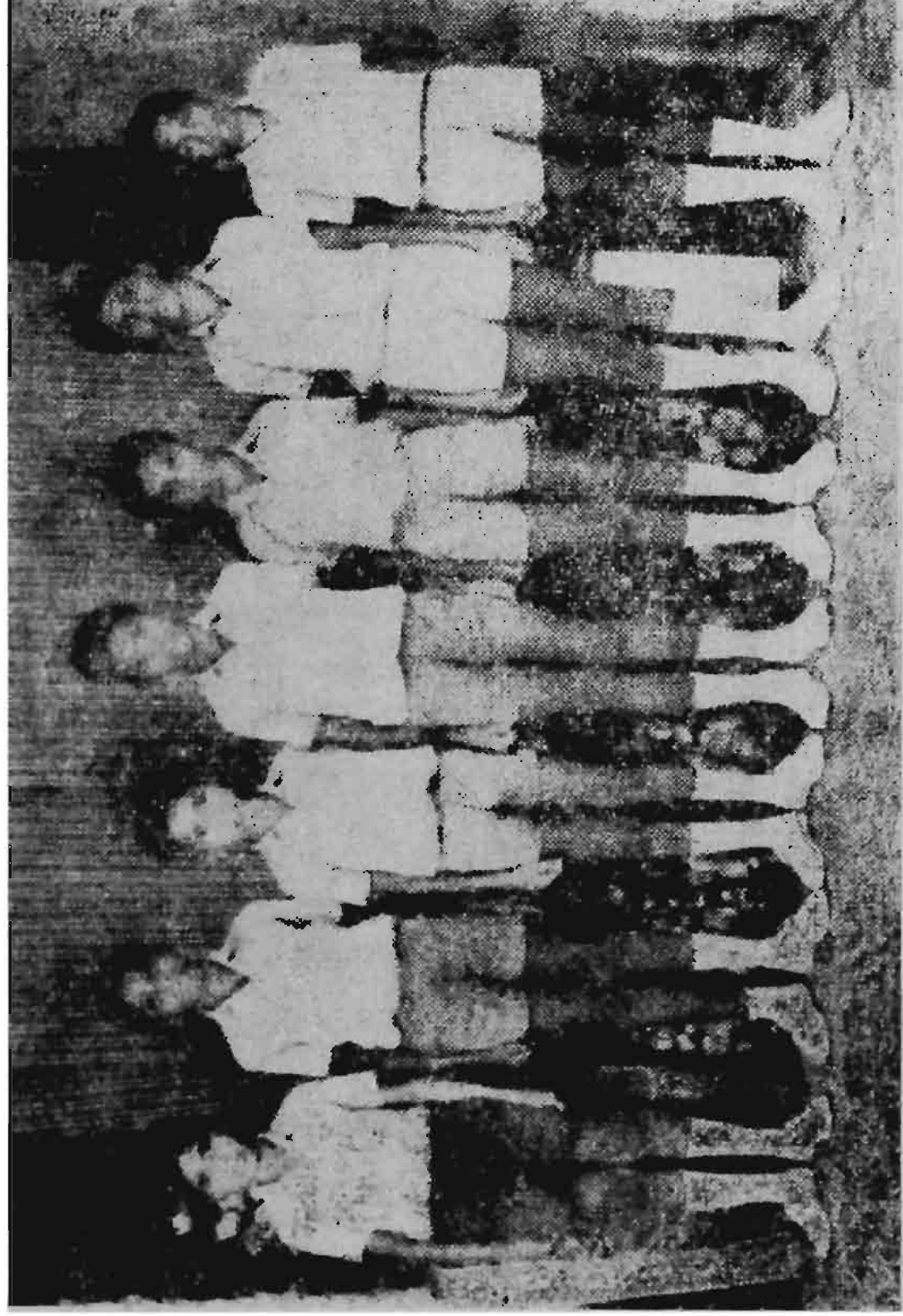
बायें से—सर्वश्री मोहनलाल, हिरमन, निखिल, उमराज, पूरनसिंह, गुप्तेश्वर, देशपाल।

हमारे इन बालकों द्वारा प्राप्त गुणांक निम्नलिखित हैं :—

क्र०	नाम	विषय (प्रत्येक में अधिकतम अंक ५०)				योग	प्रतिशत	प्रावीण्य सूची में प्राप्त स्थान
		हिन्दी	गणित	सामाजिक अध्ययन	विज्ञान			
१.	मोहनलाल	४८	४८	४६	४९	१९२	९६%	पहला
२.	हिरमन	४३	४७	४६	४५	१८१	९०.५%	दूसरा
३.	निखिल (गैर आदिवासी)	४५	४८	४७	४०	१८०	९०%	तीसरा
४	उमराज	४३	४८	४७	४२	१८०	९०%	तीसरा
५.	पूरन सिंह	४२	४८	४५	४४	१७९	८९.५%	चौथा
६.	गुप्तेश्वर	४३	४३	४६	४७	१७९	८९.५%	चौथा
७.	देशपाल	[illegible]	४७	४८	४२	१७२	८६%	सातवें